क कथा
हरि भारद्वाज

# श्रेष्ठ वैदिक कथाएं

# श्रेष्ठ वैदिक कथाएं

हरि भारद्वाज

ISBN : 81-88060-14-3

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

प्रकाशक : **सुनील साहित्य सदन**
3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002 (भारत)

संस्करण : प्रथम, 2002



कलापक्ष : चेतनदास

शब्द-संयोजक : कल्याणी कम्प्यूटर सर्विसेज
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

मुद्रक : अजीत प्रिंटर्स
मौजपुर, दिल्ली-110053

---

SHRESTHA VAIDIK KATHAYEIN
*by* HARI BHARDWAJ Price : Rs. 150.00

***Published By*** : SUNIL SAHITYA SADAN
3320-21, Jatwara, Daryaganj,
New Delhi - 110002 (INDIA)
Tel. : (011) 3270715, 3282733

# अनुक्रम

# प्रस्तावना

जबसे मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया है, तभी से कथा कहने और सुनने का सिलसिला चल रहा है।

कुछ कथाएं कथाकार द्वारा कल्पना से गढ़ी गई होती हैं और कुछ वास्तविक घटनाओं पर आधारित होती हैं, बल्कि वास्तविक घटनाएं ही होती हैं। साहित्यकार केवल उन घटनाओं को सुंदर भाषा-शैली में अभिव्यक्त कर उन्हें साहित्यिक कृति बना देता है।

इस पुस्तक की कथाओं का मुख्य स्रोत ऋग्वेद और बृहद्देवता हैं। किंतु इनके सूत्र और भी अनेक ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं—जैसे अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, बृहदारण्यक, उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, पंचविंशत ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण आदि। इन ग्रंथों में ये कथाएं सच्ची घटनाओं के रूप में ही लिखी गई हैं। इनकी अभिव्यक्ति अत्यंत सुंदर शैली में हुई है।

प्रश्न यह उठता है कि छः-सात हजार वर्ष पहले घटित घटनाएं आज के सामाजिक संदर्भ में कितनी सार्थक हैं? हजारों वर्षों बाद इन कथाओं को पुनः-पुनः कहने या लिखने का क्या प्रयोजन है? छः-सात हजार वर्षों में सभी कुछ बदल गया है। मनुष्य का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनीतिक ढांचा बिलकुल परिवर्तित हो चुका है। इस बीच मानव ने सभी दिशाओं में बहुत उन्नति कर ली है। और आधुनिक विज्ञान ने तो अतीत की अज्ञान या अल्पज्ञान की स्थिति में बनी लगभग सभी मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया है। फिर आज के संदर्भ में इन कथाओं की क्या उपयोगिता है?

बात यह है कि मनुष्य ने भौतिक रूप से चाहे जितना विकास किया हो, उसका मन और उसकी आत्मा तो आज भी वही है जो हजारों वर्ष पूर्व मानव की थी। प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्तेयर कहा करता था : "हम

इस ससार का बिलकल वैसा ही अपूण छोडकर जाएगे जसा यह तब था जब हम इस आए थे

मनुष्य की मूल प्रवृत्तिया आज भी वही जो हजारों वर्ष पूर्व था उसके भीतर बसी भावनाओं—प्रेम, काम, ईर्ष्या, द्वेष, भय, अहंकार, जिजीविषा आदि में लेशमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है।

असुरराज वृषपर्वा की पुत्री राजकुमारी शर्मिष्ठा और असुर पुरोहित शुक्राचार्य की इकलौती पुत्री देवयानी की नारी-सुलभ ईर्ष्या और द्वेष आधुनिक नारी में भी बिलकुल उसी रूप में विद्यमान हैं। देवाचार्य बृहस्पति के पुत्र कच के समान आज भी अनेक युवक अपने देश और जाति के लिए प्राणों की बलि देने को उद्यत रहते हैं।

आज भी अनेक सुकन्याएं महर्षि च्यवन जैसे साधक और तापस की आजीवन सेवा करने का व्रत लेती देखी जा सकती हैं। और आज भी हठयोगी जाजली मुनि जैसे अहंकारी को सच्चे कर्तव्यनिष्ठ, सरल तुलाधार वैश्य जैसे संत के समक्ष नतमस्तक होते देखा जा सकता है।

ऋषि कृशाश्व ने अपनी पत्नी अपाला का केवल इसलिए परित्याग कर दिया कि उसके शरीर में त्वक् रोग हो गया था। कामांध बृहस्पति ने अपनी भाभी ममता के गर्भस्थ शिशु को शाप दे दिया कि वह दीर्घतमा (अंधा) ही जन्म लेगा। ऋषि कण्व की पत्नी और उनके कनिष्ठ भ्राता प्रगाथ में माता-पुत्र जैसा निर्मल संबंध था, किंतु कण्व ने उन दोनों पर संदेह किया और उनका अपमान किया। क्या यह सब कुछ आज भी नहीं हो रहा?

सहस्रों वर्ष पूर्व के आदमी के मूल भाव या मनोविकार आज के मानव में भी वैसे ही हैं और संभावना ऐसी है कि सहस्रों वर्ष पश्चात भी ये ज्यों के त्यों रहेंगे। इसीलिए सहस्रों वर्ष पुरानी घटनाएं या किस्से-कहानियां आज के आदमी का मार्ग-दर्शन करने के लिए भी उतनी ही सार्थक हैं जितनी ये तब थीं। यही सोचकर मैंने कुछ चुनी हुई कथाओं को इस संग्रह में प्रस्तुत किया है। यदि ये वैदिक कथाएं पाठक को थोड़ा-सा भी गुदगुदा सकीं, तो मैं स्वयं को धन्य मानूंगा।

—हरि भारद्वाज

# क्रांतिकारी इंद्र

देवलोक! देवों के राजा द्यौस राजगद्दी पर सुशोभित हैं। दरबार में कुछ देव और दो-तीन असुर भी बैठे हैं।

महाराज! अभी एक अनुचर ने समाचार दिया है कि आज असुर फिर हमारी गायें चुरा ले गए हैं।'' एक अमात्य ने उठकर कहा, ''और महाराज ये असुर वे ही थे जो कल हमारे यज्ञ-मंडप में सम्मिलित हुए थे

दूसरा अमात्य भी साहस करके उठा, ''एक और भी सूचना है, महाराज! सारा दिन परिश्रम करके यज्ञ के लिए अन्न, फल, भोजन आदि लेकर कुछ देव युवक आ रहे थे कि असुरों ने उन पर हमला कर दिया और सारी सामग्री छीनकर भाग गए।''

यह घटना कहां घटी?'' राजा द्यौस को क्रोध आ गया।

यह अखाड़े के पास घटी बताई जाती है, राजन्!''

अखाड़े के पास? यह कैसे हो सकता है? वहां तो बलिष्ठ देव युवक मल्ल-विद्या का अभ्यास करते हैं। वे क्या करते रहे उस समय

वे भी आचरण-भ्रष्ट हो गए हैं। कुछ असुर युवक रोज़ आते हैं और अखाड़े में ही देव युवकों को मदिरा पिलाते हैं।'' अमात्य ने उत्तर दिया

नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। यह आरोप गलत है।'' राजदरबार में बैठे एक असुर ने कहा।

यह आरोप बिलकुल ठीक है।'' राजा द्यौस का पुत्र महाबली इंद्र, जो अब तक चुप बैठा था, एकदम चिल्ला पड़ा, ''पिताजी आप असुरों की धूर्तता समझ नहीं रहे हैं। वे हमसे सदा द्वेष रखते हैं।''

इस आरोप को हम अपना अपमान समझते हैं और इसलिए इस सभा का त्याग करते हैं।"

असुर यह कहकर राजभवन से बाहर चले गए।

"और हम आशा करते हैं कि आप फिर कभी हमारी सभा में आएंगे भी नहीं।" इंद्र ने उनकी ओर घृणा-भरी दृष्टि से देखा।

राजा द्यौस को असुरों के इस तरह चले जाने का दुःख हुआ उनको इंद्र पर क्रोध भी आया, "यह उद्दंडता है, इंद्र! तुम्हें मेरी आज्ञा के बिना इस तरह नहीं बोलना चाहिए।"

"आखिर कब तक नहीं बोलना चाहिए, पिताजी? आप असुरों के साथ संपर्क बढ़ा रहे हैं और वे हमारे साथ कुटिलता का व्यवहार करते हैं। हममें फूट डालकर हमारी शक्ति को क्षीण करना चाहते हैं।"

"यह तुम्हारी अपनी समझ है, इंद्र! और अभी तुम युवक हो...परिपक्व राजनीतिज्ञ नहीं!"

"क्षमा करें पिताजी! परिपक्वता उम्र की धरोहर नहीं है...आपने 'ग अपनी युवावस्था में ही असुरों से युद्ध जीतकर देवों को उनसे मुक्त किया था। तब क्या आपके मन में भी उनके विरोध में ऐसी ही हूक नहीं उठी होगी, जैसी आज मेरे मन में उठ रही है!"

"लेकिन अब उनका व्यवहार पहले जैसा नहीं है। हमें उनसे मेल मिलाप रखकर चलना चाहिए।" द्यौस ने समझाते हुए कहा।

"यह दृष्टिकोण आपकी सामर्थ्यहीनता का परिचायक लग रहा है पिताजी! उनका व्यवहार उतना ही कुटिल है, किंतु शायद आपकी वृद्धावस्था ने जानबूझकर ऐसा देखना बंद कर दिया है!" इंद्र निडर होकर कहे जा रहा था।

"चुप रहो, इंद्र! शायद भूल गए हो कि तुम देवों के राजा द्यौस के सामने बोल रहे हो। खबरदार, जो अपनी सीमा से आगे बढ़े तो!

राजा द्यौस क्रोध से कांपने लगे थे।

"चुप रहो! चुप रहो!" इंद्र भी आवेश में आ गया, "असुरों ने नदी का पानी रोक दिया, तब भी आपने कहा—चुप रहो! वे देवबालाओं का अपहरण करके ले गए, तब भी आपने कहा—चुप रहो। सब लोकों में

देव जाति का अपमान हो रहा और आप सह जा रहे हैं चुप रहो चुप रहो आखिर कब तक देव जाति और अधिक ह्रास नहीं देख सकता इंद्र की वाणी स्वाभिमान झांक रहा था

सावधान, इंद्र! तू मूर्ख है!''

आप कायर हैं, पिताजी!''

इंद्र! मैं तुम्हारा वध कर दूंगा!'' राजा द्यौस क्रोधोन्मत्त होकर चिल्लाए और इंद्र को मारने दौड़े।

मैं आपसे द्वंद्वयुद्ध के लिए सन्नद्ध हूं, पिताजी। देवगण की रक्षा मैं हर कीमत पर करूंगा। उन्हें असुरों से और पीड़ित नहीं होने दूंगा।''

इंद्र ने ललकार स्वीकार की।

पिता-पुत्र का द्वंद्वयुद्ध होने लगा।

अततः इंद्र के हाथों राजा द्यौस मारा गया।

सभासदों ने तत्काल निर्णय लेकर युवा इंद्र को देवों का राजा नियुक्त कर दिया।

सारा दिन परिश्रम करके देवगण अनाज, फल, आहार, मांस, पशु, चर्म, आदि लाए और यज्ञशाला में अग्निवेदी के पास रख दिया। गण के सारे व्यक्ति वहां एकत्रित होकर उस सामग्री में अपने-अपने उपयोग का भाग प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगे।

सांझ ढल गई, किंतु सामग्री वितरण करने वाले देवपुरोहित बृहस्पति नहीं आए।

अंधेरा होने को आया। पुरोहित का कहीं पता नहीं।

एक देव ने आकर समाचार दिया, ''बृहस्पति देवलोक छोड़कर अन्यत्र चले गए हैं। वह इंद्र की उच्छृंखलता से बहुत नाराज हैं।''

क्या, पुरोहित देवलोक छोड़कर चले गए हैं?''

एक साथ सबके मुंह से निकला।

अब यज्ञ कौन कराएगा?''

देवताओं का भाग कौन बांटेगा?''

नीति और नियम कौन बताएगा?''

"धर्म की रक्षा कौन करेगा?"

"क्या आज यज्ञ नहीं होगा?"

गण-नेता इंद्र सोच में डूब गए। एक ही आवाज उनके कानों में गूंजने लगी—'क्या आज यज्ञ नहीं होगा...क्या आज यज्ञ नहीं होगा?

राजा इंद्र गंभीर हो गया।

सन्नाटा! सांय-सांय!

सबके चेहरों पर प्रश्न लटक रहे हैं।

सहसा इंद्र के मस्तिष्क में बिजली-सी कौंधी। उन्होंने सिर उठाया बोले, "मैं पुरोहित—पद के लिए त्वष्टा के पुत्र महाज्ञानी विश्वरूप त्रिशिरा के नाम का प्रस्ताव करता हूं।"

"विश्वरूप! लेकिन वह तो एक काला-कर्मी का पुत्र है!" किसी ने कहा।

किंतु विश्वरूप स्वयं तो कर्म से ब्राह्मण है—तपस्वी है। तीन विद्वानों जितनी बुद्धि है उसके पास—इसीलिए उसे हम 'त्रिशिरा' कहते हैं। त्रिशिरा से अच्छा पुरोहित हमें कोई नहीं मिलेगा। आप सब तत्काल इसकी स्वीकृति दीजिए ताकि आज यज्ञ हो सके।" इंद्र गंभीरता से कहता जा रहा था।

"हां, आज यज्ञ तो होना है। पुरोहित भी चाहिए। विश्वरूप त्रिशिरा अद्वितीय विद्वान भी है, किंतु वह जन्म से ब्राह्मण नहीं है! और परंपरानुसार एक ब्राह्मण ही पुरोहित-पद का अधिकारी है।" एक वृद्ध देव ने कहा

"परिस्थिति और आवश्यकतानुसार परंपराएं बदलती रही हैं और बदलती रहनी चाहिए। हमारी मुख्य परंपरा यज्ञ-परंपरा है। पुरोहित उसका एक अंग है। यज्ञ-परंपरा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए परिस्थिति के अनुसार पुरोहित बदला जा सकता है।"

इंद्र ने एक तीक्ष्ण दृष्टि देवसभा पर डाली, फिर घोषणा-सी की "और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए त्रिशिरा से उपयुक्त पुरोहित आज हमारे पास दूसरा कोई नहीं है। इसलिए आप सब इसकी स्वीकृति प्रदान करें।"

"हमें स्वीकार है! विश्वरूप त्रिशिरा हमारे पुरोहित होंगे। वही हमारा

यज्ञ कराएंगे  सबने समवेत स्वर में स्वीकृति दी

त्वष्टा प्रसन्न  गया  सके पुत्र को देवों का परम सम्मान मिला था

त्रिशिरा ने देवताओं की स्तुति की। सारी सामग्री में से थोड़ा-थोड़ा देवों के नाम से अग्निकुंड में अर्पित किया। फिर परंपरा के अनुसार सारी वस्तुओं को समस्त गण के लोगों में बांट दिया।

यज्ञ संपन्न हुआ।

युवा नेता इंद्र ने देवों में एक नई स्फूर्ति भर दी। महापराक्रमी इंद्र का नेतृत्व पाकर देवगण खूब परिश्रम करते।

इंद्र का प्रयत्न था कि देव प्रत्येक दृष्टि से असुरों से अधिक बलवान हो जाएं। यह तभी संभव था जब देवों के भंडार अन्न से भरे हो उपभोग की सारी वस्तुएं प्रचुर मात्रा में हों; अनगिनत गौएं हों; हाथी-घोड़े पशु आदि बलिष्ठ हों, खूब अस्त्र-शस्त्र हों। कभी किसी वस्तु की कमी न रहे।

नेता से प्रेरणा प्राप्त करके देव युवक अथक परिश्रम करने लगे। सब गण को समृद्ध बनाने में जुट गए। पहले से चार गुनी यज्ञ-सामग्री लाने लगे।

इंद्र प्रसन्न हो गया। उसने समझा कि अब देवों के भंडार प्रत्येक वस्तु स भरे होंगे और देव शीघ्र ही असुरों से अधिक शक्तिशाली हो जाएगे

किंतु थोड़े दिन बाद ही इंद्र ने अनुभव किया कि देवगण घोर परिश्रम करके थक जाते हैं। उनके शरीर बलिष्ठ होने की जगह कमजोर होत जा रहे हैं। उनके चेहरे पीले पड़ रहे हैं। और सबमें एक तरह का असतोष फैल रहा है। लगता था कि लोग फिर वैसा ही दब्बूपन-सा अनुभव कर रहे हैं जैसा उसके पिता द्यौस के राज्य में था। शायद लोग भूखे रहते हैं? इतना कमाने के बाद भी पेट नहीं भरता!

क्यों?

आखिर क्यों?

इंद्र को संदेह हुआ।

वह यज्ञशाला में भंडार का निरीक्षण करने चला गया। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा—भंडार खाली पड़ा था। यह क्या?

कहां गया देवगणों द्वारा अर्जित इतना अन्न, वस्त्र, चर्म, आहार, फल?

सब कुछ कहां चला गया?

इंद्र ने पुरोहित विश्वरूप त्रिशिरा से पूछा।

त्रिशिरा ने कहा, "सब कुछ यहीं तो बांट दिया जाता है—देवों में। देव कमाते ही कितना हैं? सब निकम्मे और आलसी हैं। खाने के पेटू, करने के कुछ नहीं।"

सुनकर इंद्र चौंक गया। विश्वरूप कुछ वैसी ही भाषा बोल रहा है जैसी प्रायः असुर जाति के लोग देवों के बारे में बोलते हैं!

उसका संदेह पक्का हो गया।

विश्वरूप वस्तुतः है कौन?

अद्वितीय कलाकार त्वष्टा का पुत्र। उस त्वष्टा का, जो देवों पर जान देता है! लेकिन उसकी मां असुरकन्या है, जिसका मोह अब भी असुरों में है। असुरों ने उसे ऐसी ही सीख देकर भेजा है कि वह देवों में त्वष्टा की पत्नी बनकर रहे किंतु सदा असुरों की भलाई के बारे में सोचे। और यदि वह किसी तरह अपने पति त्वष्टा के विचार बदलकर उसे असुरों के पक्ष में कर दे तो सारी असुर-जाति उसका उपकार कभी नहीं भूलेगी।

त्वष्टा तो उसके प्रभाव में नहीं आया...किंतु विश्वरूप...लगता है वह अवश्य अपनी असुरबाला मां से प्रभावित है। तभी तो ऐसी भाषा बोल रहा है!

इंद्र विश्वरूप पर नजर रखने लगा।

और एक रात...

इंद्र ने देखा—देवों की यज्ञशाला की ओर से असुरों की कई गाड़ियां माल से लदी आ रही हैं। इनमें अवश्य वही सामग्री लदी है जो देवगण परिश्रम से कमाकर लाते हैं...

उसने आगे जाकर देखा दो असुर नौकाएं खड़ी हैं और गाड़ियां भर भर माल उन नौकाओं में लादकर असुरलोक की ओर रही हैं

इंद्र ने झपटकर एक असुर को पकड़ लिया और उसे इतना पीटा कि उसने टूटकर भेद खोल दिया—यह सारा माल देवभंडार में से विश्वरूप ने लदवाया है...और असुर प्रायः रोज ही इसी तरह माल लादकर असुरलोक ले जाते रहे हैं।

बस, इंद्र आग बन गया! उसमें से क्रोध की चिनगारियां फूटने लगीं वह हुंकार भरता हुआ बस्ती में से होता यज्ञशाला की ओर बढ़ चला। जिसने भी उसके भयानक रूप को देखा, वही कांप गया। देवबालाएं चीखने लगीं। बच्चे मां के आंचल में छिप गए।

इंद्र सीधा यज्ञशाला में घुसा।

आधी रात।

विश्वरूप उस समय भी वेदी पर पुरोहित के रूप में आसीन था। इंद्र ने एक जोर की हुंकार भरी और खड्ग त्रिशिरा के सिर पर चला दिया।

त्रिशिरा का सिर कटकर दूर जाकर गिरा। रक्त के छींटों से इंद्र लाल हो गया। वह वेदी पर एक पांव रखकर खड़ा हो गया। इस समय उसकी आकृति बहुत भयानक दिखाई दे रही थी। उसकी आंखें रक्तवर्ण की हो गई थीं।

वह गरजकर बोला, "इस विश्वासघाती कृतघ्न को उचित दंड मिल गया है। यह देवों के परिश्रम का फल असुरों में बांट रहा था। हमारा पेट काटकर उनका पेट पाल रहा था। इस विश्वासघाती ने देवों की यज्ञशाला को अपवित्र कर दिया। आओ। आगे बढ़ो! मैं इंद्र आह्वान करता हूं। जो श्रेष्ठ ब्राह्मण देवों के पुरोहित-पद का भार संभालने को तैयार हो, वह आगे आए। देवों के कल्याण के लिए स्वयं उत्तरदायित्व ले मैं इस विश्वासघाती ब्राह्मण के रुधिर से उसका अभिषेक करूंगा।"

"इंद्र ने ब्रह्म-हत्या की है!" एक वृद्ध ब्राह्मण चिल्लाया।

"इंद्र ने पितृ-हत्या भी की है!"

''इंद्र पथ-भ्रष्ट हो गया है!''

''देवों की यज्ञशाला में ब्राह्मण का रक्त!''

''देवलोक का नाश होगा!''

''इंद्र का पतन होगा।''

''इस यज्ञशाला में गीदड़ रोएंगे!''

ब्राह्मण-समुदाय की ओर से कठोर शब्दों के बाण बरसने लगे।

''ब्राह्मणो, सावधान!'' इंद्र ने अपना खड्ग फिर उठा लिया। उससे अब भी त्रिशिरा के रक्त की बूंदें टपक रही थीं।

इंद्र ने गरजकर कहा, ''देवों के विरोध में बोलने वाले का मैं पहला शत्रु हूं। यह यज्ञशाला अपवित्र नहीं हुई, त्रिशिरा के रक्त से धो दी गई है। इस यज्ञशाला के लिए ही मैंने अपने पिता राजा द्यौस का वध किया था! इस यज्ञशाला की परंपरा को सुरक्षित रखने के लिए मैं सौ पिताओं का वध कर सकता हूं, एक हजार राजाओं को मार सकता हूं, दस हजार ब्राह्मणों को मार सकता हूं, और...और...अपने जैसे लक्ष-लक्ष इंद्रों को भी अर्पित कर सकता हूं।

''मैं किसी भी मूल्य पर यज्ञ-परंपरा को सुरक्षित रखूंगा। यज्ञ होगा तो कोटि-कोटि पिता होंगे, कोटि-कोटि राजा होंगे, ब्राह्मण होंगे, पुरोहित होंगे। एक यज्ञशाला रहेगी तो असंख्य इंद्रासन होंगे। जब तक यज्ञ है, तब तक गण है और जब तक गण है, तब तक ब्रह्म है। ब्रह्म केवल ब्राह्मण में ही नहीं, प्रत्येक श्रेष्ठ जन में है। कुटिल, मिथ्याभाषी, विश्वासघाती कभी ब्राह्मण नहीं हो सकता।

''हे देवगण! यदि मेरे इस कृत्य में कोई दोष ढूंढता है और आपमें से कोई भी यदि अपने-आपको देवों के नायक-पद का अधिकारी मानता है तो आगे आए। मैं इंद्र, अभी अपना पद त्यागता हूं। कोई भी आए और इंद्रासन ग्रहण करे, मैं उसके साथ हूं। अपनी क्षमतानुसार मैं देवों की सेवा करता रहूंगा। गण की सेवा करता रहूंगा। ऐसा कोई भी प्राणी, चाहे वह किसी भी जाति का है, यदि देव-द्रोही है, यज्ञ-परंपरा का घाती है तो मैं इंद्र, उसका शत्रु हूं। मैं उसका वध करूंगा!''

''हम इंद्र के साथ हैं! इंद्र हमारा राजा है!'' मनु एक ओर से

चिल्ला उठा। उसके धनुष की टंकार से यज्ञशाला गूंज उठी।

इंद्र हमारा राजा है!" दक्ष बोल पड़ा।

इंद्र हमारा राजा है!" नासत्य भी बोल पड़ा।

हम भी इंद्र के साथ हैं।" तेजस्वी उनचास मरुद्गण चारों ओर से यज्ञशाला को घेरकर खड़े हो गए। उन्होंने अपने कठोर खड्ग तान लिए

जो देवेंद्र का द्रोही है, वह सामने आए और हमसे युद्ध करे।"

जो यज्ञ-परंपरा का विरोधी है, वह पहले आकर मुझसे टक्कर ले मनु आवेश में था।

हे महापराक्रमी, बलशाली इंद्र! मैं महर्षि अंगिरा का वंशज, योद्धा और ऋषि अग्नि तुझे अपना राजा मानता हूं। मैं तेरा आह्वान करता हूं। न मधुर सोमरस का पान करके शक्तिशाली बन! देवों की रक्षा कर। धर्म की स्थापना कर। यज्ञ-परंपरा का निर्वाह कर! तेरे शत्रुओं का पतन ह हम सब तेरे साथ हैं।"

अग्नि ने घट उठाकर पत्थर का कटोरा सोमरस से भर दिया और इंद्र के होठों से लगा दिया।

इंद्र उसे एक ही सांस में पी गया।

चारों ओर सन्नाटा।

झन-झन...

सांसें रुकी रहीं।

प्राण सिमट गए।

ब्राह्मणों के सिर झुक गए।

इंद्र की एक और विजय हुई!

इंद्र फिर सोच में डूब गए—गण के लिए पुरोहित की समस्या फिर खड़ी हो गई थी।

कुछ सोचकर बोले, "जब तक पुरोहित का पद रिक्त है, मेरी आज्ञा से आंगिरस अग्नि यज्ञ-भाग बांटेगा।"

"अग्नि?"

''हां। वह भी आचार्य बृहस्पति की ही परंपरा का है— अंगिरावंशी।''

अग्नि कुछ सोचकर बोला, ''मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, देवेंद्र। किंतु स्वयं आचार्य बृहस्पति होते तो अच्छा होता। सुना है, वह आजकल जहां भी हैं, प्रसन्न नहीं हैं। असुरों में वह मिल नहीं सकते। हमसे रूठ गए हैं। अकेलापन उन्हें सताता रहता है।''

''तो मैं आचार्य की खोज करूंगा। वही इस पद के अधिकारी हैं।'' इंद्र ने कहा।

''आप खोज करेंगे? आचार्य तो आपसे ही विशेष रुष्ट हैं।''

''मैं उन्हें मनाऊंगा। उनसे क्षमा मांगूंगा।''

''क्षमा? क्या इंद्र भी क्षमा मांगते हैं?''

''हां। देवों के हित के लिए इंद्र कुछ भी कर सकता है। देवों से हटकर उसका कोई अस्तित्व नहीं है। आचार्य बृहस्पति ने जीवन-भर देवगण का हित किया है। वह हमसे दूर कैसे रह सकते हैं? वह नीतिज्ञ हैं, धर्मज्ञ हैं। मैं उन्हें मनाकर लाऊंगा।''

और इंद्र पल-भर में सबकी आंखों से ओझल हो गया।

थोड़ी देर में ही इंद्र पुनः प्रकट हुआ।

देवगण देखकर आश्चर्यचकित रह गए— उसके साथ खड़े थे आचार्य बृहस्पति।

सब में उल्लास-भर गया।

सब इंद्र का जयघोष करने लगे।

बृहस्पति की अभ्यर्थना की गई।

इंद्र ने आचार्य बृहस्पति का फिर से पुरोहित पद पर अभिषेक किया।

यज्ञ-परंपरा फिर जीवित हो गई!

# वृत्रासुर का वध

दैत्यपुरी।

हाट बाजार सजे हुए हैं। जीवनोपयोगी वस्तुओं से दुकानें भरी पड़ी हैं। सुर, असुर, यक्ष, दैत्य, गंधर्व सब घूम-घूमकर खरीददारी कर रहे हैं।

त्वष्टा एक-एक दुकान को देखता जा रहा है। उसे लौह की खोज है। वह लौह से देवराज इंद्र के लिए एक ऐसा रथ बनाना चाहता है जो जल-थल दोनों पर चल सके। जो जमीन पर रथ की तरह दौड़े और जल में नाव की तरह चले। जल आने पर अपने-आप घोड़ों के नीचे काष्ठ तनकर नाव की तरह बन जाए और रथ में बैठे इंद्र अबाध गति से अपने शत्रु का पीछा वेग से करते रहें।

त्वष्टा ने देखा एक यक्ष, हाट में बैल पर लौह लादकर, घूम-घूमकर बेच रहा है। उसने बैल सहित सारा लौह खरीद लिया और देवपुरी की ओर चल पड़ा।

एक महीने की यात्रा के बाद त्वष्टा अपने घर पहुंचा।

घर में सन्नाटा था। सांझ ढलने पर भी दिया नहीं जलाया गया था। लगा जैसे कई दिन से घर में बुहारी नहीं दी गई है।

उसने अपनी पत्नी असुरकन्या को आवाज लगाई। कोई नहीं बोला। त्वष्टा को चिंता हुई। क्या बात है? ऐसा तो कभी नहीं होता था। पहले वह जब कभी बाहर से आता था तो पत्नी भागकर उसका स्वागत करती थी। कहां है आज वह?

त्वष्टा आशंकित हो गया।

अंदर जाकर देखा, पत्नी नीचे फर्श पर मूर्च्छित पड़ी है। उसने उसे झकझोरा।

पत्नी ने आंखें खोलीं। पति को देखकर वह उससे लिपटकर रोने लगी।

"क्या बात है, प्रिये? क्या हुआ? बताओ तो।"

"सब कुछ लुट गया। कुछ नहीं रहा...कुछ भी तो नहीं रहा। तुम...तुम...इंद्र को सुदृढ़ करने में लगे रहे और इंद्र ने तुम्हारा नाश कर दिया है, प्राणप्रिय..." पत्नी बुरी तरह रो रही थी।

"इंद्र ने नाश कर दिया?"

"हां! इंद्र ने तुम्हारे पुत्र विश्वरूप का वध कर दिया।"

"क्या कहा? विश्वरूप का वध? त्रिशिरा का वध?"

"हां नाथ, यज्ञशाला में जाकर देख लो। कल इंद्र ने वेदी पर ही उसका सिर काट दिया।"

त्वष्टा की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। वह बैठकर लंबी-लंबी सांसें खींचने लगा। फिर एकदम उठकर चीख पड़ा, "त्रिशिरा...विश्वरूप! मेरे पुत्र...ओह इंद्र..." और सहसा उठकर घर से बाहर निकल गया।

यज्ञशाला के द्वार पर ही उसका पांव रक्त से सन गया। वह एकदम रुक गया। अंदर दृष्टि पड़ी तो...

ओह! त्रिशिरा का सिर कटा पड़ा था...दूसरी तरफ रक्त से लथपथ उसका धड़ पड़ा था...ओह! कितना भयानक...

त्वष्टा ने दांत पीस लिए। मुट्ठियां भिंच गईं। भृकुटि तन गई। आंखें लाल हो गईं। वह चिल्लाया, "इंद्र! मेरे पुत्र का हत्यारा..." और झटके से वापस मुड़ चला।

वह घर पहुंचा। पत्नी को साथ लिया और रात को ही देवलोक छोड़कर असुरलोक की ओर चल पड़ा।

मार्ग में। नदी के तट पर।

त्वष्टा की अंजली में जल है। सूर्योन्मुख हो उसने प्रतिज्ञा की, "इंद्र सावधान! मैं विश्वकर्मा त्वष्टा—जल को साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा करता हूं कि कुछ ही दिनों में तेरे देवलोक को भस्म कर दूंगा! दुष्ट इंद्र! मैंने ही तुझे अजेय बनाया था, मैं ही तुझे मिट्टी में मिला दूंगा! तूने मेरे एक पुत्र को मारा है...मैं एक और ऐसे पुत्र का निर्माण करूंगा जो तेरे जैसे हजार इंद्रों को नष्ट कर दे। मैं उसमें अपनी ज्वालाएं भर दूंगा। और वे ज्वालाएं

तेरा अमरावती को भस्म करके ही शांत होगी! सावधान इंद्र! सावधान! मैं प्रतिशोध लूंगा।''

और प्रातःकाल त्वष्टा असुरों की सभा में बैठा था—क्रुद्ध, क्षुब्ध, अग्निपिंड के समान दहकता। देवों के प्रति प्रतिशोध से भरा हुआ। इंद्र का शत्रु!

असुरों की सभा में आज प्रसन्नता की लहर दौड़ गई है।

अतीत में क्या कुछ नहीं किया था उन्होंने त्वष्टा को अपनी ओर मिलाने के लिए। अधिकतम सम्मान दिया था उसे। असुरराज वृषपर्वा उसे अपने साथ बिठाकर सबसे स्वादिष्ट मदिरा पिलाता था। उसे विपुल धन-संपत्ति भेंट करता था। दास-दासियां अर्पित कर उसका मन लुभाता था।

किंतु त्वष्टा यह कहकर उन्हें वापस लौटा देता था कि देव-समाज मे किसी की कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होती। वहां सभी वस्तुओं पर सबका बराबर अधिकार है, अतः मैं यह सब ले जाकर क्या करूंगा?

इतना ही नहीं असुरों ने अपनी एक अतीव सुंदरी कन्या का विवाह भी त्वष्टा से कर दिया था और उसे सिखाकर भेजा था कि वह असुर जाति के हित के लिए त्वष्टा को देवों से विमुख करके असुरों की ओर मोड़े।

किंतु त्वष्टा इन सबसे अप्रभावित रहा।

असुर त्वष्टा का गुण जानते थे। उसने विलक्षण देवपुरी का निर्माण किया था। ऐसी पुरी असुरों के पास नहीं थी। और देवों का नंदन कानन! अहा दखते ही बनता था। चाहे सारी धरती लू से झुलसती रहे या बर्फ से जमा रहे, किंतु नंदन कानन में सदैव बसंत ऋतु रहती थी। त्वष्टा ने देवपुरी में ऐसे अमृतकुंड बनाए थे जो सदा शीतल और स्वादिष्ट जल से भरे रहते थे। असुर ग्रीष्म ऋतु में एक-एक बूंद जल को तरस जाते थे और देव सदा देवबालाओं के साथ अपने उत्तम जलाशयों में जल-क्रीड़ा किया करते थे।

और इंद्र का भव्य प्रासाद—वैजयंत! विष्णु का वैकुंठ लोक भी जिसके सामने फीका लगता था। और इंद्रासन! कैसा दिव्य! उस पर आसीन इंद्र जब चाहता, देवसभा में प्रकट हो जाता और जब चाहता

"क्या बात है, प्रिये? क्या हुआ? बताओ तो।"

"सब कुछ लुट गया। कुछ नहीं रहा...कुछ भी तो नहीं रहा। तुम...तुम...इंद्र को सुदृढ़ करने में लगे रहे और इंद्र ने तुम्हारा नाश कर दिया है, प्राणप्रिय..." पत्नी बुरी तरह रो रही थी।

"इंद्र ने नाश कर दिया?"

"हां! इंद्र ने तुम्हारे पुत्र विश्वरूप का वध कर दिया।"

"क्या कहा? विश्वरूप का वध? त्रिशिरा का वध?"

"हां नाथ, यज्ञशाला में जाकर देख लो। कल इंद्र ने वेदी पर ही उसका सिर काट दिया।"

त्वष्टा की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। वह बैठकर लंबी-लंबी सांसें खींचने लगा। फिर एकदम उठकर चीख पड़ा, "त्रिशिरा...विश्वरूप! मेरे पुत्र...ओह इंद्र..." और सहसा उठकर घर से बाहर निकल गया।

यज्ञशाला के द्वार पर ही उसका पांव रक्त से सन गया। वह एकदम रुक गया। अंदर दृष्टि पड़ी तो...

ओह! त्रिशिरा का सिर कटा पड़ा था...दूसरी तरफ रक्त से लथपथ उसका धड़ पड़ा था...ओह! कितना भयानक...

त्वष्टा ने दांत पीस लिए। मुट्ठियां भिंच गईं। भृकुटि तन गई। आंखें लाल हो गईं। वह चिल्लाया, "इंद्र! मेरे पुत्र का हत्यारा..." और झटके से वापस मुड़ चला।

वह घर पहुंचा। पत्नी को साथ लिया और रात को ही देवलोक छोड़कर असुरलोक की ओर चल पड़ा।

मार्ग में। नदी के तट पर।

त्वष्टा की अंजली में जल है। सूर्योन्मुख हो उसने प्रतिज्ञा की, "इंद्र सावधान! मैं विश्वकर्मा त्वष्टा—जल को साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा करता हूं कि कुछ ही दिनों में तेरे देवलोक को भस्म कर दूंगा! दुष्ट इंद्र! मैंने ही तुझे अजेय बनाया था, मैं ही तुझे मिट्टी में मिला दूंगा! तूने मेरे एक पुत्र को मारा है...मैं एक और ऐसे पुत्र का निर्माण करूंगा जो तेरे जैसे हजार इंद्रों को नष्ट कर दे। मैं उसमें अपनी ज्वालाएं भर दूंगा। और वे ज्वालाएं

तेरी अमरावती को भस्म करके ही शांत होगी! सावधान इंद्र! सावधान! मै प्रतिशोध लूंगा।''

और प्रातःकाल त्वष्टा असुरों की सभा में बैठा था—क्रुद्ध, क्षुब्ध, अग्निपिंड के समान दहकता। देवों के प्रति प्रतिशोध से भरा हुआ। इंद्र का शत्रु!

असुरों की सभा में आज प्रसन्नता की लहर दौड़ गई है।

अतीत में क्या कुछ नहीं किया था उन्होंने त्वष्टा को अपनी ओर मिलाने के लिए। अधिकतम सम्मान दिया था उसे। असुरराज वृषपर्वा उसे अपने साथ बिठाकर सबसे स्वादिष्ट मदिरा पिलाता था। उसे विपुल धन-संपत्ति भेंट करता था। दास-दासियां अर्पित कर उसका मन लुभाता था।

किंतु त्वष्टा यह कहकर उन्हें वापस लौटा देता था कि देव-समाज में किसी की कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होती। वहां सभी वस्तुओं पर सबका बराबर अधिकार है, अतः मैं यह सब ले जाकर क्या करूंगा?

इतना ही नहीं असुरों ने अपनी एक अतीव सुंदरी कन्या का विवाह भी त्वष्टा से कर दिया था और उसे सिखाकर भेजा था कि वह असुर जाति के हित के लिए त्वष्टा को देवों से विमुख करके असुरों की ओर मोड़े

किंतु त्वष्टा इन सबसे अप्रभावित रहा।

असुर त्वष्टा का गुण जानते थे। उसने विलक्षण देवपुरी का निर्माण किया था। ऐसी पुरी असुरों के पास नहीं थी। और देवों का नंदन कानन! अहा दखते ही बनता था। चाहे सारी धरती लू से झुलसती रहे या बर्फ से जमी रहे, किंतु नंदन कानन में सदैव बसंत ऋतु रहती थी। त्वष्टा ने देवपुरी में ऐसे अमृतकुंड बनाए थे जो सदा शीतल और स्वादिष्ट जल से भरे रहते थे। असुर ग्रीष्म ऋतु में एक-एक बूंद जल को तरस जाते थे और देव सदा देवबालाओं के साथ अपने उत्तम जलाशयों में जल-क्रीडा किया करते थे।

और इंद्र का भव्य प्रासाद—वैजयंत! विष्णु का वैकुंठ लोक भी जिसके सामने फीका लगता था। और इंद्रासन! कैसा दिव्य! उस पर आसीन इंद्र जब चाहता, देवसभा में प्रकट हो जाता और जब चाहता

ासुर सहित गुप्त हो ा स्वर्ग स्म या ामी द्र के
लिए दवो ए वैसा त शि

कि ने तरस थ ासुर ष्ट जे मह कलावि के ाए
आज वही त्वष्टा उनकी सभा म बैठा ह...स्वय आकर कुछ याचना करता-सा...पुत्रशोक से पीड़ित।

असुर प्रसन्न हो गए। उनकी कामना अब अवश्य पूरी होगी।

"असुरराज!" त्वष्टा सहसा बोला, "मैं इंद्र का शत्रु आज तुम्हारी सभा में उपस्थित हुआ हूं। दुष्ट इंद्र ने मेरे पुत्र का वध किया है। मैं उसका प्रतिशोध लूंगा। मैं देवपुरी को भस्म कर दूंगा। तुम इसमें मेरी सहायता करो।"

"लेकिन देवपुरी को तो आपने ही अजेय बनाया है, त्वष्टा! अब वह कैसे भस्म हो सकती है?" असुरराज ने चुटकी ली।

"हां, मैंने ही उसे अजेय बनाया है और मैं ही उसे ध्वस्त करने की क्षमता भी रखता हूं। मुझे लोग विश्वकर्मा कहते हैं। ऐसा क्या है संसार में जो मैं न कर सकूं।"

"लेकिन यह कैसे होगा?" असुरराज ने उकसाया, "इंद्र तो अमर है, कैसे मरेगा?"

"मरेगा, जरूर मरेगा।" त्वष्टा ने हुंकार भरी, "तुम मुझे एक पुत्र दो, बस।"

"पुत्र?"

"हां पुत्र। मेरे पुत्र का प्रतिशोध मेरा पुत्र ही ले लेगा!"

"लेकिन पुत्र कैसे संभव है अब?" सब आश्चर्य से एक-दूसरे की ओर ताकने लगे।

"संभव है। मुझे अनुमति दो कि मैं असुरलोक में से किसी भी एक युवक को चुन लूं। वही मेरा पुत्र होगा। मैं विशेष यज्ञ रचकर, मंत्रों के द्वारा उसे ऐसा भीषण योद्धा बनाऊंगा कि एक इंद्र तो क्या, ऐसे सहस्र इंद्र भी उससे टकराकर चूर-चूर हो जाएं।"

त्वष्टा की आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं।

"लेकिन एक युवक से क्या होगा, त्वष्टा? हमारी सारी सेना देवों

का विनाश करने को तैयार खड़ी है। तुम बस, युक्ति बताओ।''

इस सारी सेना से कुछ नहीं होगा, असुरराज! देर मत करो। मुझे एक युवक दो—वही कई सेनाओं के बराबर हो जाएगा मेरे तप में तपकर ''

तो तुम एक सहस्र युवक ले जाओ।''

सहस्र नहीं, केवल एक चाहिए...एक...''

मेरी अनुमति है, तुम किसी को भी चुन सकते हो। वही तुम्हारा पुत्र होगा।''

तो फिर इंद्र को मरा ही समझो। समझो, इंद्रपुरी भस्म हो गई। तुम निश्चित हो जाओ।'' कहकर त्वष्टा एक झटके से खड़ा हो गया और असुरपुर की धूल छानने लगा।

वह एक-एक गली, एक-एक घर में जाता। एक-एक युवक को देखता और आगे बढ़ जाता।

अचानक उसकी दृष्टि एक युवक पर पड़ी। ब्रह्मचर्य का तेज उसके ललाट से छिटक रहा था। वह ब्राह्मण बल त्रिसय का पुत्र वृत्र था।

त्वष्टा ने भागकर उसका हाथ पकड़ लिया, ''तू कहां छुपा हुआ था पुत्र! मैं कब से तेरी खोज में भटक रहा हूं। तू ही मेरा पुत्र है। चल मेरे साथ! मेरी ज्वाला शांत कर। असुरों का कल्याण कर। देवों का नाश कर इंद्र का वध कर...'' त्वष्टा उसका हाथ पकड़कर अंधकार में विलीन हो गया।

उसके बाद कई वर्ष बीत गए। असुर भी त्वष्टा और उसके दत्तक पुत्र वृत्र को भूल गए। उन्होंने समझ लिया कि वे दोनों कहीं देवों के हाथ लग गए और मारे गए...

और सहसा एक दिन...

असुरराज की सभा में एक धमाका हुआ, जैसे भूकंप आ गया। धरती हिलने लगी।

सारे सभासद कांप गए। असुरराज का सिंहासन डोल गया। सभा में

पर्वत के समान एक विशालकाय मूर्ति ने प्रवेश किया और उसके पीछे-पीछे आया त्वष्टा।

"हा-हा-हा-हा..."

"यह क्या है, त्वष्टा? यह कौन है?" असुरराज घबरा गया।

"हा-हा-हा-हा..." इसे पहचानो, असुरराज यह मेरा पुत्र है। इंद्र का विजेता, महाबली वृत्रासुर!"

"वृत्रासुर?" सबने चौंककर देखा।

"हां! वृत्रासुर। सारे संसार का विजेता। मैंने अपनी औषधियों और मंत्रों से इसके शरीर को तपाकर ऐसा कठोर बना दिया कि आज तक बना कोई भी अस्त्र-शस्त्र इस पर खरोंच भी नहीं लगा सकता। इसके समान बली इस धरती पर कोई नहीं है। यह अकेला ही इंद्र समेत पूरी इंद्रपुरी को नष्ट कर देगा। जरा अपना चमत्कार दिखा, वृत्र!"

संकेत पाते ही वृत्रासुर ने राजसभा के एक विशाल स्तंभ को उखाड़कर तिनके की तरह फेंक दिया। भवन डगमगा गया। चट्टानें टकराने लगीं। चिनगारियां फूटने लगीं। भूकंप आ गया। सभा डगमगा उठी। कोहराम मच गया।

और...

वृत्रासुर आगे-आगे। असुर सेना पीछे-पीछे। वे देवलोक की ओर बढ़ चले। चारों तरफ हाहाकार मच गया। अमरावती डगमगाने लगी। इंद्रासन हिल गया। भव्य वैजयंत भवन धूल में मिल गया। वृत्रासुर की टक्कर से यज्ञशाला धरती में धंस गई। नंदन कानन में दावानल भड़क उठा। अमृतकुंड देवों के रक्त से भर गए। सारे देवलोक में जलते मांस की सड़ांध उठने लगी। दुर्गंधयुक्त धुंए से आकाश भर गया। प्रलय आ गया।

देवगण हाय-हाय करते हुए इधर-उधर भागने लगे। वे समझ नहीं पाए कि यह एकदम क्या हुआ? कहां जाएं? कैसे जाएं? प्राण कैसे बचाएं?

वे पर्वतों, नदियों, घाटियों को लांघते हुए जंगलों और कंदराओं में छिपने लगे।

देवलोक भस्म हो गया।

किंतु त्वष्टा के प्रतिशोध की ज्वाला अभी ठंडी नहीं हुई।

उसके पुत्र का हत्यारा इंद्र तो अभी जीवित ही है!

और वृत्र उसकी खोज में निकल पड़ा। वह जिधर चला जाता, धरती दहल उठती। यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, गरुड, नाग—सब लोकों में वह इंद्र की खोज करने लगा। जो भी आगे पड़ जाता, मसल दिया जाता सारी धरती पर हाहाकार मच गया। रक्त की नदियां बहने लगीं। उनमें रुड-मुंड तैरने लगे। सर्वत्र भूत-प्रेतों का वास हो गया। प्राण-प्राण 'त्राहिमाम्' 'त्राहिमाम्' कर उठा।

"वृत्र का नाश हो! त्वष्टा का नाश हो!" लोक-लोक में यही प्रार्थना की जाने लगी।

वृत्र तो अंधा-बहरा बनकर विनाशलीला की ओर बढ़ता रहा, किंतु त्वष्टा का दिल दहल उठा। एक इंद्र के लिए सारी धरती का संहार! निरीह प्राणियों की आहें! कराहें!! एक हत्या के लिए कोटि-कोटि मासूम अनजान लोगों की हत्या। नहीं, यह पाप है। अधर्म है। अन्याय है।

"रुक जाओ, वृत्र! रुक जाओ, पुत्र। मैंने ऐसा तो नहीं कहा था। एक इंद्र की खोज करो, बस! औरों का संहार बंद करो। बंद करो!"

किंतु वृत्र तो रक्त में खेल रहा था। रुधिर उसके सिर चढ़ गया था उसे क्या पता, क्या हो रहा है। वह सारी धरती को उलट देगा। उसकी गदा अब विश्राम नहीं करेगी।

और वह बढ़ चला—महर्षि दधीचि के आश्रम की ओर।

त्वष्टा हाहाकर कर उठा, "नहीं वृत्र, उधर नहीं! वे महर्षि हैं, उदार हैं पूज्य हैं, भूमंडल के प्राण हैं। उनके लिए सुर-असुर सब समान हैं। वे किसी के शत्रु नहीं, सबके मित्र हैं। उधर मत जाओ, वृत्र!"

त्वष्टा ने भागकर वृत्र को पकड़ लिया। वृत्र ने उसे एक जोर का झटका दिया। वह दूर जा पड़ा। फिर उठकर भागा। चिल्लाया, "रोको, कोई रोको इसे!"

लेकिन अब कौन रोके उसे? किसमें शक्ति है?

वृत्र बढ़ता ही गया...और...उफ!

एक ही वार में महर्षि दधीचि का सिर दूर जा गिरा। समाधिस्थ

निश्चल धड़ से रक्त की गरम पिचकारियां फूट पड़ीं। आश्रम की पावन धरती रक्त से लाल हो गई और आकाश लाल हो गया आग की लपटों से।

आश्रम धू-धूकर जल रहा था।

त्वष्टा सिर पकड़कर बैठ गया। अपना माथा पीटने लगा। यह मैंने क्या किया? क्या इसका प्रायश्चित्त होगा? वृत्र! तू दुष्ट है, पापी है, हत्यारा है! ब्रह्म का हत्यारा है! तेरा नाश होगा।

और तभी उसके कानों में दर्द-भरी वाणी गूंज उठी, ''मैं महर्षि के पावन रक्त की सौगंध खाकर प्रतिज्ञा करता हूं—जब तक पापी वृत्र का वध नहीं करूंगा, दुबारा देवलोक नहीं बसाऊंगा!''

वाणी में ओज था, विश्वास था, ललकार थी।

त्वष्टा ने आंखें उठाकर देखा—इंद्र महर्षि के रक्त से अपने मस्तक पर टीका लगा रहा है।

त्वष्टा चिल्लाया, ''इंद्र! देवराज!''

''अच्छा! तू भी यहीं है, त्वष्टा!'' इंद्र खड्ग लेकर उस पर झपटा।

''ले! पहले तेरा ही काम तमाम करूंगा, फिर तेरे द्वारा निर्मित इस जघन्य हत्यारे पुत्र का!''

''ठहर, इंद्र। मैं आत्मसमर्पण करता हूं। यदि मेरे वध से तेरी प्रतिज्ञा पूरी होती है तो मैं खड़ा हूं सामने। काट दे मेरा सिर।''

''नहीं। मुझे वृत्र चाहिए—महाप्राण महर्षि का हत्यारा! मैं उसे ही मारूंगा।''

''लेकिन वह तुमसे मरेगा नहीं, इंद्र। वह अमर है!''

''अमर? इस धरती पर कौन अमर है? मैं इंद्र...''

''मैं ठीक कहता हूं, देवराज। मैंने औषधियों से तपाकर उसे ऐसा बना दिया है कि आज तक का बना हुआ कोई भी आयुध उसके शरीर पर खरोंच तक नहीं लगा सकता।''

''फिर मेरी प्रतिज्ञा...'' इंद्र ने दांत पीस लिए।

''तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी। त्वष्टा अपनी प्रतिज्ञा से हट सकता है, किंतु देवराज की प्रतिज्ञा पूरी होनी ही चाहिए!''

त्वष्टा महर्षि के रक्त उगलते धड़ के निकट गया और उसे प्रणाम किया। उसे श्रद्धा से एकटक निहारता रहा। फिर बुदबुदाया—''महर्षि की दिव्य आत्मा ब्रह्म में विलीन हो गई, किंतु उनका शरीर अब भी धरती के पाप को नष्ट करने में सहायक होगा। उनकी आत्मा अमोघ थी। उनका शरीर भी अमोघ है। उनकी अस्थियां अमोघ हैं। मैं उनकी अस्थियों से ही एक ऐसा आयुध बनाऊंगा जो अमोघ होगा। जिसे संसार में कोई नहीं काट सकेगा। उसी वज्र से वृत्र का बध होगा!''

और एक दिन फिर घोर हाहाकार मच गया। भीषण कोलाहल! देवासुर संग्राम रक्त, मांस, लाशें, आग! धुआं! प्रलय! महाप्रलय!!

गजराज पर बैठा इंद्र घोर गर्जन कर रहा है। उसके हाथ में वज्र चमचमा रहा है। सबको चौंधियाता-सा वह आगे बढ़ रहा है...

इधर से आता वृत्रासुर—सबको रौंदता, मसलता। चिनगारी छूट रही है उसकी गदा से।

वह चिल्लाया, ''मिल गया, मिल गया! दुष्ट इंद्र...मेरा भोजन...आज मेरे प्राणों की प्यास बुझेगी।''

उसने जोर से गदा गजराज के विशाल मस्तक पर दे मारी। गजराज चिंघाड़ा लड़खड़ाया और अचकचाकर लुढ़क गया।

हा...हा...हा...मारा गया...इंद्र मारा गया!'' वृत्र चिल्लाया।

सावधान, पापी! मैं यहां हूं—तेरा काल। संभल जा!''

वृत्र ने तुरंत झपटकर फिर गदा चलाई। वह इंद्र के वज्र से टकराई और टुकड़े-टुकड़े हो गई।

प्रचंड ज्वाला फूटी।

वृत्र चकरा गया। यह क्या? इसी गदा से उसने असंख्य पराक्रमी योद्धाओं का सिर चूर-चूर कर दिया था। फिर...

कोई बात नहीं। मेरे हाथ तो वज्र से भी कठोर हैं। कहां तक बचेगा इंद्र?

उसने हाथ बढ़ाकर वज्र पकड़ना चाहा।

उसका हाथ छलनी हो गया। खून के परनाले बह चले।

वज्र प्रखर तेज से चमचमाने लगा।

इंद्र गरजा—

"अब मैं वार करता हूं। संभल जा, पापी!"

इंद्र झपटा।

वृत्र भाग चला।

"मेरे हाथ में तेरा काल है, असुर!" इंद्र ने पीछा किया। "जिस महर्षि की तूने हत्या की है, यह उन्हीं की अस्थियों से बना अमोघ वज्र है, सौ धार वाला—त्वष्टा द्वारा निर्मित तेरे वध के लिए!"

"त्वष्टा...?"

वृत्र के पांव ढीले पड़ गए।

इंद्र उछलकर उस पर टूट पड़ा।

कठोर वज्र असुर वृत्र के शरीर पर पड़ा और उसकी कोख में धंस गया। तप्त रक्त का परनाला फूट पड़ा और वृत्रासुर का शरीर देखते ही देखते ठंडा हो गया।

आकाश में जय-निनाद गूंज उठा।

देवताओं ने इंद्र की स्तुति गाई।

बृहस्पति ने उसका अभिषेक किया।

सारे देव अपने महापराक्रमी राजा इंद्र का अभिनंदन कर रहे हैं।

किंतु इंद्र गंभीर मुद्रा में पीछे मुड़ा और कुछ ही दूर पर चट्टान पर सिर झुकाए बैठे त्वष्टा को अपने अंक में भर लिया। बोला, "तेरे बनाए वज्र से देवशत्रु का अंत हुआ, त्वष्टा! तू सचमुच विश्वकर्मा है। महान् है। देवों का सबसे बड़ा हितकारी है। पूज्य है! वंदनीय है!

"आ त्वष्टा! मेरे साथ आ! हम दोनों साथ-साथ सोमरस का पान करें।"

आंगिरस ने पत्थर का बड़ा कटोरा सोम से लबालब भर दिया।

एक ही कटोरे से दोनों ने सोम का पान किया।

आंगिरस ने बाकी सब देवगणों को भी सोम अर्पित किया। सबने पी और झूमने लगे।

देवों ने इंद्र और त्वष्टा का जयघोष किया। धरती-आकाश उनके जय-निनाद से भर गए।

# अश्विनीकुमारों का जन्म

चतुर शिल्पी एवं वास्तुकार त्वष्टा।

उसकी दो संतान थीं—पुत्री सरण्यू एवं पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा।

त्वष्टा ने अपनी पुत्री सरण्यू का विवाह विवस्वत् से किया।

विवस्वत् स्वयं आदित्य हैं। सूर्य हैं। प्रकाशपुंज हैं।

सरण्यू और विवस्वत् में अत्यंत प्रेम था। उनसे जुड़वा संतान उत्पन्न हुई—यमज। पुत्र का नाम रखा यम और पुत्री का यमी।

यम यमलोक के स्वामी हुए। दिवंगत होने पर मृत व्यक्ति यमलोक में जाकर विश्राम करता है। यम उनके आवास का प्रबंध करते हैं।

यम के दूत उलूक तथा कपोत पक्षी हैं।

उनकी दो संतान हैं। एक का रंग शबल अर्थात चितकबरा है तथा दूसरे का श्याम है।

यौवन-ऊर्जा में, प्रणय-उत्साह में सरण्यू विवस्वत् आदित्य का तेज सहन कर गई। यद्यपि सूर्य की तेजस्वी ऊर्जा असहनीय थी। जीवन का युवाकाल भी कम तेजस्वी नहीं होता!

ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती गई, शरीर शिथिल होता गया। और दो संतानों के प्रसव ने सरण्यू को और भी शिथिल कर दिया। अतः महातेजस्वी सूर्य की ऊर्जा अब उसके लिए बिलकुल असह्य हो गई।

और एक दिन

सरण्यू ने बिलकुल अपने सदृश्य एक छाया-स्त्री की सृष्टि की। उसको आदेश दिया कि वह सूर्य के साथ उनकी पत्नी बनकर रहे। और उसकी संतानों के साथ मातृत्व का स्नेहिल व्यवहार करे।

सरण्यू देवलोक और अपने पति विवस्वत् सूर्य को त्यागकर मृत्युलोक में चली गई। और छाया सरण्यू सूर्य के पास पत्नीवत् रहने लगी।

विवस्वत् को इस रहस्य का पता नहीं चल सका। वह छाया सरण्यू

को ही वास्तविक सरण्यू समझकर उससे यथावत् व्यवहार करते रहे।

उनसे भी एक संतान उत्पन्न हुई जिसका नाम रखा—मनु। वह वैवस्वत-मनु हुए। मानवों के आदिपुरुष। मानव मात्र के राजा।

मनु ने अग्नि प्रज्वलित की। यज्ञ-परंपरा का प्रारंभ किया। मानव-कल्याण के लिए देवों के हवन हेतु सामग्री एकत्रित की। स्मृतियों का सृजन किया। मनु प्रथम राजर्षि हुए।

छाया सरण्यू ने भरसक प्रयास किया कि वह वास्तविक सरण्यू जैसा व्यवहार करे।

और इसी व्यवहार के कारण विवस्वत् सूर्य ने उसको अपनी वास्तविक पत्नी समझ उससे पति की भांति व्यवहार किया और मनु जैसी संतान प्राप्त की थी!

किंतु धीरे-धीरे उनको संदेह होने लगा। उन्होंने एक दिन पूछ ही लिया, ''तुम पहले वाली सरण्यू नहीं लगतीं। कुछ बदल-सी गई हो। क्या बात है?''

छाया सरण्यू अकस्मात् यह प्रश्न सुनकर अंदर से हिल गई। कहीं विवस्वत् को रहस्य का पता न चल गया हो। वह मौन रह गई।

उसके मौन ने विवस्वत् को और अधिक शंका से भर दिया। उन्होंने क्रोध करके पूछा, ''बताओ तुम कौन हो?''

छाया फिर भी मौन रही। वह स्वयं में ही सिमटकर पीछे हट गई।

विवस्वत् फिर गरजे, ''यदि तुमने सत्य नहीं बताया तो मैं तुम्हें कठोर दंड दूंगा। बताओ तुम कौन हो?''

छाया भय से कांप गई। बोली, ''मैं सरण्यू नहीं हूं। मैं सरण्यू की छाया हूं।''

''फिर सरण्यू कहां है?''

''वह आपका परित्याग कर मृत्यु-लोक चली गई है और वहां अश्विनी का रूप धारण करके रहती है।''

''मृत्युलोक? अश्विनी बनकर?''

विवस्वत् को गहरा धक्का लगा। वे वास्तव में सरण्यू से बहुत प्रेम करते थे। विह्वल होकर बोले, ''जब सरण्यू अश्विनी बनकर मृत्युलोक

चली गई है तो मैं ही यहां रहकर क्या करूंगा? मैं भी जा रहा हूं उसी के पास।''

मृत्युलोक!

एक सुंदर-सुडौल अश्व विरह में व्याकुल, होकर पृथ्वी वन-पर्वत, नदी सरोवर आदि स्थानों पर किसी को खोजता घूम रहा है। वह अत्यंत अशांत और क्लांत यत्र-तत्र भटक रहा है।

उसकी दृष्टि एक अश्विनी पर पड़ी। वह ठिठककर खड़ा हो गया। उसे एकटक देखता रहा। उसे लगा जैसे कोई अपनी वस्तु मिल गई हो—वही प्रिय वस्तु जिसकी खोज में वह भटक रहा है।

अश्विनी ने मुड़कर देखा—सामने एक सुंदर अश्व। हां, उसी का परमप्रिय! पहचान लिया। तुरंत दौड़ी हुई अश्व के पास आई और उसे प्रेम से चाटने लगी। अश्व भी अपनी प्रिय पत्नी को पाकर अत्यंत प्रसन्न हुआ वह भी अपनी अश्विनी को चाटने लगा।

दोनों का मौन प्रेमालाप हुआ। प्रेम से देह स्पंदित हुई। नसों में प्रवाहित रक्त उत्तप्त हुआ। श्वास-क्रिया तीव्र हुई।

काम जागा। वेग बढ़ा। और...

कामोद्दीपन में अश्व का शुक्र स्खलित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

कामपीड़ित और संतान की इच्छुक अश्विनी ने पृथ्वी पर पड़े उस तेज को सूंघा।

सूंघते ही उसकी नासिका से दो दिव्य पुरुषों ने जन्म लिया। दोनों हा महातेजस्वी। सूर्य-कांति स्वरूप। गौरवर्ण।

उन्हें देखते ही विवस्वत् प्रसन्नता से बोल उठा, ''अश्विनीकुमार! मेरे पुत्र ''

ये दोनों मेरी नासिका से उत्पन्न हुए हैं इसलिए इनका नाम होगा नासत्य। मेरे पुत्र नासत्य।'' अश्विनी सरण्यू बोली।

दोनों अपने पुत्रों की ओर वात्सल्य-भाव से देखने लगे।

पिता ने प्रफुल्लित होकर पुत्रों को वरदान दिया, ''तुम दोनों मृत्यु-लोक में उत्पन्न होकर भी देव कहलाओगे। तुम देवताओं के वैद्य होओगे। अमर होकर तुम सभी लोकों में विचरण करोगे।''

को ही वास्तविक सरण्यू समझकर उससे यथावत् व्यवहार करते रहे।

उससे भी एक संतान उत्पन्न हुई जिसका नाम रखा—मनु। वह वैवस्वत-मनु हुए। मानवों के आदिपुरुष। मानव मात्र के राजा।

मनु ने अग्नि प्रज्वलित की। यज्ञ-परंपरा का प्रारंभ किया। मानव-कल्याण के लिए देवों के हवन हेतु सामग्री एकत्रित की। स्मृतियों का सृजन किया। मनु प्रथम राजर्षि हुए।

छाया सरण्यू ने भरसक प्रयास किया कि वह वास्तविक सरण्यू जैसा व्यवहार करे।

और इसी व्यवहार के कारण विवस्वत् सूर्य ने उसको अपनी वास्तविक पत्नी समझ उससे पति की भांति व्यवहार किया और मनु जैसी संतान प्राप्त की थी!

किंतु धीरे-धीरे उनको संदेह होने लगा। उन्होंने एक दिन पूछ ही लिया, ''तुम पहले वाली सरण्यू नहीं लगतीं। कुछ बदल-सी गई हो। क्या बात है?''

छाया सरण्यू अकस्मात् यह प्रश्न सुनकर अंदर से हिल गई। कहीं विवस्वत् को रहस्य का पता न चल गया हो। वह मौन रह गई।

उसके मौन ने विवस्वत् को और अधिक शंका से भर दिया।

उन्होंने क्रोध करके पूछा, ''बताओ तुम कौन हो?''

छाया फिर भी मौन रही। वह स्वयं में ही सिमटकर पीछे हट गई।

विवस्वत् फिर गरजे, ''यदि तुमने सत्य नहीं बताया तो मैं तुम्हें कठोर दंड दूंगा। बताओ तुम कौन हो?''

छाया भय से कांप गई। बोली, ''मैं सरण्यू नहीं हूं। मैं सरण्यू की छाया हूं।''

''फिर सरण्यू कहां है?''

''वह आपका परित्याग कर मृत्यु-लोक चली गई है और वहां अश्विनी का रूप धारण करके रहती है।''

''मृत्युलोक? अश्विनी बनकर?''

विवस्वत् को गहरा धक्का लगा। वे वास्तव में सरण्यू से बहुत प्रेम करते थे। विह्वल होकर बोले, ''जब सरण्यू अश्विनी बनकर मृत्युलोक

चली गई है तो मैं ही यहां रहकर क्या करूंगा? मैं भी जा रहा हूं उसी के पास।''

मृत्युलोक!

एक सुंदर-सुडौल अश्व विरह में व्याकुल, होकर पृथ्वी वन-पर्वत, नदी सरोवर आदि स्थानों पर किसी को खोजता घूम रहा है। वह अत्यंत अशांत और क्लांत यत्र-तत्र भटक रहा है।

उसकी दृष्टि एक अश्विनी पर पड़ी। वह ठिठककर खड़ा हो गया। उसे एकटक देखता रहा। उसे लगा जैसे कोई अपनी वस्तु मिल गई हो—वही प्रिय वस्तु जिसकी खोज में वह भटक रहा है।

अश्विनी ने मुड़कर देखा—सामने एक सुंदर अश्व। हां, उसी का परमप्रिय! पहचान लिया। तुरंत दौड़ी हुई अश्व के पास आई और उसे प्रेम से चाटने लगी। अश्व भी अपनी प्रिय पत्नी को पाकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। वह भी अपनी अश्विनी को चाटने लगा।

दोनों का मौन प्रेमालाप हुआ। प्रेम से देह स्पंदित हुई। नसों में प्रवाहित रक्त उत्तप्त हुआ। श्वास-क्रिया तीव्र हुई।

काम जागा। वेग बढ़ा। और...

कामोद्दीपन में अश्व का शुक्र स्खलित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

कामपीड़ित और संतान की इच्छुक अश्विनी ने पृथ्वी पर पड़े उस तेज को सूंघा।

सूंघते ही उसकी नासिका से दो दिव्य पुरुषों ने जन्म लिया। दोनों ही महातेजस्वी। सूर्य-कांति स्वरूप। गौरवर्ण।

उन्हें देखते ही विवस्वत् प्रसन्नता से बोल उठा, ''अश्विनीकुमार! मेरे पुत्र ''

ये दोनों मेरी नासिका से उत्पन्न हुए हैं इसलिए इनका नाम होगा नासत्य। मेरे पुत्र नासत्य।'' अश्विनी सरण्यू बोली।

दोनों अपने पुत्रों की ओर वात्सल्य-भाव से देखने लगे।

पिता ने प्रफुल्लित होकर पुत्रों को वरदान दिया, ''तुम दोनों मृत्यु-लोक में उत्पन्न होकर भी देव कहलाओगे। तुम देवताओं के वैद्य होओगे अमर होकर तुम सभी लोकों में विचरण करोगे।''

# देवदूती सरमा

सभी देवगण सिर झुकाए चिंतामग्न बैठे हैं। कोई कुछ बोल नहीं रहा है।

हताश! निराश! विषादग्रस्त! किंकर्तव्यविमूढ़।

बृहस्पति की गायें चोरी हो गई हैं। और चुराकर ले गए हैं पणि।

वे पणि जो अत्यंत शक्तिशाली हैं, योद्धा हैं, कठोर हैं, क्रूर हैं, हेय हैं, शत्रु हैं, मनुष्यहंता हैं, दैत्यों के मित्र हैं।

वे पणि, जो दस्यु हैं, गुह्य शक्तियों के स्वामी हैं। वे धनवान हैं, किंतु दानवान नहीं। वे किसी के उपासक नहीं, विध्वंसक हैं। ऋषियों की दृष्टि में हेय हैं, त्याज्य हैं, अवांछनीय तत्त्व हैं।

ये पणि ही देवगुरु बृहस्पति की गायें चुराकर ले गए हैं। उन्होंने ऐसा कर्म पहले भी कई बार किया है। बड़ी कठिनाई से देव उनसे उन क्रूर प्राणियों से अपने पशुधन छुड़ाकर लाए थे। काफी हानि भी उठानी पड़ी थी। तब देवों ने उन पर अंतरिक्ष से जलते हुए पत्थरों की वर्षा की थी। गौएं तो वापिस मिल गई थीं, किंतु पणि बचकर भागने में सफल हुए थे।

और आज फिर पापियों ने देवों की गायें चुरा ली हैं। देव उनसे युद्ध करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। वे समझौता करने के पक्ष में हैं। किंतु समझौते की बात करने भी कौन जाए उनके पास? उन दुष्टों का क्या भरोसा? क्या अनिष्ट कर बैठें?

इस कार्य के लिए इंद्र ने सरमा को बुलाया है। सबकी दृष्टि पूर्व की ओर टिकी है। और यह लो! सरमा भी आ गई।

सरमा ने आकर देवराज इंद्र को 'शिरसा नमामि' किया।

"सरमा!" इंद्र ने उसे संबोधित किया।

"हां देव!"

तुम्हें ज्ञात होगा कि हमने असमय ही तुम्हें किसलिए बुलाया है

हां देवराज, मुझे आभास है।'' सरमा ने विनम्र भाव से उत्तर दिया।

तुम्हें दूत का कार्य करना होगा।''

मैं प्रस्तुत हूं, वृत्रहन!''

दौत्यकर्म अत्यंत कठिन होता है, सरमे!''

फिर भी आपने मुझे चुना, यह मेरा अहोभाग्य है, वज्रिन्!''

दूत को अत्यंत विनम्र, सजग, वाणी में स्पष्ट, धैर्यवान और आवेश-रहित होना चाहिए। दूत में शत्रुपक्ष के मनोभावों को पढ़ने की क्षमता होनी चाहिए। उसे वार्तालाप को इस ढंग से आगे बढ़ाना चाहिए जिससे उसके कार्य की पूर्ति होने में सहायता मिले। अपना पक्ष विनम्रता से किंतु फिर भी पूरी दृढ़ता एवं शक्ति के साथ रखना चाहिए, जिससे अपनी किसी प्रकार की हीनता का प्राकट्य न हो, वरन उसे चाहिए कि वह दूसरे पक्ष की शक्तिहीनता का बोध कराए। उसे गोपन क्रिया में विशेषज्ञता प्राप्त हो—ये दूत के विशेष गुण होते हैं।''

'आपका आशीर्वाद और आपकी कृपा मेरे साथ है, पुरंदर।'' सरमा गंभीर किंतु विनीत हो गई।

'दूत अवध्य होता है, इसलिए तुम्हें पणियों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।''

'आपके आदेश का पालन होगा, देव।''

'सरमा! पता चला है कि गायों को रसा नदी के उस पार पर्वत-गुहा में बंद कर रखा है। मार्ग दुष्कर है फिर भी मुझे विश्वास है, तू सफल होगी। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।''

''आप निश्चिंत रहें, असुरहन! मैं देवकार्य अपनी पूरी क्षमता से करूंगी। और सफल होकर ही लौटूंगी। मुझे अनुमति दें।''

दुर्गम दुष्कर पथ से चलती सरमा अंततः पणियों के देश पहुंच गई। पणि उसे जानते थे। उसे अपने यहां देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ।

''अरे! सरमा, तुम! यहां कैसे पहुंचीं? इतनी दूर! अत्यंत दुर्गम मार्ग। रसा नदी को पार करना तो मृत्यु को ही पार करना है। कितने दिन-रात लगाए तुमने इस यात्रा में? यह दुष्कर कार्य तुमने कैसे किया है, सरमा?''

''यह सब देवों की कृपा से हुआ है।'' सरमा ने मुसकराते हुए उत्तर दिया।

''किंतु किस प्रयोजन से?''

''मैं देवों की दूत बनकर आपके पास आई हूं, पणिगण! मुझे देवराज इंद्र ने आपके पास भेजा है।''

''किंतु किस प्रयोजन से?''

''आप देव बृहस्पति की गायों का अपहरण करके ले आए हैं। कृपाकर उन्हें वापस कर दीजिए।''

''हम चुराकर लाई हुई वस्तु कभी वापस नहीं देते।'' पणियों ने सगर्व, सुदृढ़ शब्दों में कहा।

''किंतु चोरी करना पाप है।'' सरमा ने भी सुदृढ़ किंतु विनम्र स्वर में कहा।

''यह पाप-शाप देवों के लिए होता होगा, हमारे लिए नहीं। हमारा तो काम ही यही है।''

''यदि आप देव बृहस्पति की गौएं नहीं लौटाएंगे तो देवराज इंद्र रुष्ट होंगे। और उनकी रुष्टता आपके लिए हानिकर होगी।'' सरमा की वाणी में स्पष्ट चेतावनी थी।

''हमने गायों को रसा नदी के पार एक गहन गुहा में रखा है। और हम पूर्ण सुरक्षित हैं। इंद्र और अन्य देव हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। हम शक्तिशाली हैं। अश्वों और धन-धान्य से युक्त हैं। हमारे शस्त्र संहारक हैं।'' पणियों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया, ''हम देवों से किसी प्रकार भयभीत नहीं।''

''देवराज इंद्र के प्रचंड वज्र के सामने तुम्हारे सभी शस्त्र व्यर्थ हैं। उसी प्रखर वज्र से उन्होंने दुर्धर्ष वृत्रासुर जैसे महाबली असुर का वध किया था। इसी कठोर वज्र से इंद्र ने दानव नमुचि का संहार किया था।

वही कठोर वज्र अनार्य चुमुरि और धुनि की छाती को भी विदीर्ण कर गया था सरमा ने इंद्र की प्रशंसा करते हुए अपनी वाणी में कठोरता लानी प्रारंभ की।

पणिगण एक-दूसरे की ओर देखने लगे।

सरमा ने अपने शब्दों का प्रभाव होते देखा तो वह फिर और तेज स्वर में कहने लगी।

"पणियो! इंद्र का वज्र अजेय है, अकाट्य है। फिर उनके साथ सभी बलयुक्त देव हैं। शक्तिशाली आंगिरस, वेगवान मरुत, वरुण, अपास्य नवग्वा और स्वयं बृहस्पति। वे सोमशक्ति से संपन्न होकर तुम पर आक्रमण करेंगे। उनके दुर्धर्ष नुकीले शस्त्र आपके शरीरों को वेध देंगे और देव बलपूर्वक अपनी गायों को छुड़ाकर ले जाएंगे।"

पणियों के मन में भय समाने लगा। वे एक-दूसरे की ओर देखने लगे। परिस्थिति उन्हें विकट लगने लगी, अतः उन्होंने भी अपनी नीति में परिवर्तन किया और सरमा को प्रलोभन देने का प्रयास किया—

"सरमा! देवगण भयभीत हैं, तभी तो उन्होंने तुम्हें यहां हमसे समझौता करने भेजा है। वे हमारी अपराजेय शक्ति से परिचित हैं। तुम कहां उन दुर्बल देवों के चक्कर में पड़ गई हो। तुम हमारी भगिनी-स्वरूपा हो। तुम यहीं हमारे पास रहो। हम तुम्हें भी तुम्हारा भाग देंगे। तुम कुछ ही समय में धनवान बन जाओगी। भला उन देवों के पास जाकर तुम्हें क्या मिलेगा? तुम यहीं निवास करो।"

सरमा उनके प्रलोभन से अप्रभावित रही। बोली, "पणिगण! मैं यहां कैसे रह सकती हूं? इंद्र और आंगिरस मेरी सुरक्षा करते हैं। उन्हीं के कारण मैं यहां पहुंच सकी हूं। भला परम ऐश्वर्यशाली देवों को छोड़कर तुम्हारे साथ इन गुफाओं में छिपकर कौन रहना चाहेगा?"

सरमा ने देवों के बल और वैभव को और अधिक प्रदर्शित करते हुए कहा।

पणिगण अंदर से भयभीत तो हो ही गए थे, किंतु अपने अहं को बनाए रखने के लिए वे गायों को वापस करने को तैयार नहीं हुए।

सरमा अपना काम करके शीघ्र ही देवलोक लौट आई।

उसने इंद्र को अपहृत गायों की स्थिति, उनको छिपाने के स्थान और वहां तक पहुंचने के मार्ग के विषय में पूरा विवरण दिया तो इंद्र और देवगण प्रसन्न हो गए।

पणियों से बलपूर्वक अपना गोधन छीन लेने को तत्पर होकर इंद्र के नेतृत्व में देवों ने पूरी शक्ति के साथ पणियों पर आक्रमण कर दिया।

भयंकर युद्ध हुआ। पणिगण पहले ही भयभीत हो चुके थे। वे इंद्र के वज्र-प्रहार के समक्ष टिक नहीं सके और कुछ ही देर में परास्त हो गए।

बृहस्पति की गायों को पर्वत-गुहा से मुक्त करा लिया गया।

बृहस्पति प्रसन्न हो गए। देवों को उनकी प्रतिष्ठा वापस मिल गई। उनकी विजय पताका पुनः अंतरिक्ष में लहरा उठी।

# नाहुष और सरस्वती

राजा नहुष के पुत्र का नाम था नाहुष। वे एक मंत्र-द्रष्टा ऋषि भी थे।

उन्होंने अपनी साधना को और बढ़ाने के लिए संकल्प किया—वे यज्ञ करेंगे।

यज्ञ भी कोई छोटा-मोटा नहीं, बल्कि पूरे एक सहस्र वर्ष तक चलने वाला महायज्ञ। वे एक सहस्र वर्ष की दीक्षा लेंगे।

इस दीर्घ सत्र के यज्ञ-आयोजन के लिए वे अपने रथ पर आरूढ़ होकर उचित स्थान की खोज करने के लिए निकले। उन्हें कोई ऐसा सुरम्य स्थान नहीं मिला, जहां वे एक सहस्र वर्ष तक बिना किसी बाधा का यज्ञ-अनुष्ठान कर सकें।

उन्होंने किसी नदी के तट पर यज्ञ करने का विचार किया। वे सभी नदियों के पास पहुंचे। एक-एक कर सभी की अभ्यर्थना की। पूजा-प्रार्थना की। फिर सबका सामूहिक आवाहन कर प्रार्थना की—

"मैंने सहस्र वर्ष तक चलने वाला यज्ञ करने का संकल्प किया है। आप माता-स्वरूपा हैं या तो पृथक-पृथक या सामूहिक रूप से अपना अपना यज्ञ-भाग लेने की महती कृपा करें।"

नदियों ने परस्पर विचार-विमर्श किया और कहा, "हे शुभाकांक्षी राजन्! आपका संकल्प अत्यंत उत्तम है। इस पृथ्वी के लिए कल्याणकारी है एसा संकल्प तो कोई परम धैर्यवान और भाग्यवान व्यक्ति ही कर सकता है। हम भी इस संकल्प में आपकी सहयोगी होना चाहते हैं, किंतु हमारी विवशता यह है कि हम अल्प शक्ति वाली हैं, इसलिए यज्ञ-भाग लेने में असमर्थ हैं।"

नाहुष ने पुनः याचना-भरी वाणी में कहा, "किंतु हे पुण्यसलिला सरिताओ, मैंने जो संकल्प किया है, उसका क्या होगा? वह तो अब पूर्ण

करना ही है और मैंने सर्वत्र भ्रमण कर देख लिया है कि सरिता तट से अधिक समुचित स्थान और कहीं नहीं है इसलिए मेरी सहायता कीजिए।"

"हमारी भावनाएं आपके साथ ही हैं, राजन्। किंतु हमारी शक्ति इतनी नहीं है कि हम आपके एक सहस्र वर्ष के यज्ञ को सुनिश्चित कर सकें। यज्ञ के बीच में किसी प्रकार की बाधा पड़ गई तो आपका और हमारा भी अनिष्ट होगा। हम ऐसा नहीं चाहतीं।"

"किंतु मेरे संकल्प का क्या होगा?"

नदियों ने पुनः विचार-विमर्श किया। फिर अचानक जैसे कोई समाधान मिल गया हो। बोलीं, "राजन्, आपका कल्याण हो। आप सरस्वती के पास जाइए। वहां आपका संकल्प अवश्य पूरा होगा।"

"सरस्वती।"

"हां! सरस्वती—वह एक सहस्र वर्ष तक यज्ञ-भाग लेने में समर्थ है।"

"वह कैसे?"

"वह विद्युत की पुत्री है। सारस्वत योद्धा की पत्नी है। असूया है।"

"क्या सरस्वती-तट पर यज्ञ हो पाएगा?"

नाहुष ने जिज्ञासा प्रकट की।

"हां राजन्! वहां आपकी कामना अवश्य पूरी होगी। वह परम पवित्र नदी है। सभी सरिताओं की माता है। सप्तस्वरीय है। पांच जातियों की पोषक है। उसका जल कभी अल्प नहीं होता। वह आपका सहस्र-वर्षीय दीर्घ-सत्र यज्ञ संपूर्ण कराने में समर्थ है।"

नाहुष ने पुनः आश्वस्त होने का प्रयास किया, "क्या वहां यज्ञ होते रहते हैं?"

"हां, राजन् सरस्वती-तट पर यज्ञाग्नि सदैव प्रज्वलित रहता है। वहां सर्वदा सुवासित यज्ञ-धूम्र उठता रहता है। उसके तट पर राजा चित्र का महालय स्थित है। वे बड़े ही परोपकारी राजा हैं। सरस्वती-तट पर बसने वाले सभी वासी राजा चित्र के प्रचुर दान से फलते-फूलते हैं और सदैव प्रसन्नचित रहते हैं। उनकी शुभकामनाएं भी आपके यज्ञ की पूर्णता में

आपके काम आएंगी। सरस्वती का तट ऊर्जा से चेतन है। वह स्थान सब प्रकार से यज्ञ-आयोजन के लिए सुखकर एवं कल्याणकारी होगा।''

नाहुष आश्वस्त हुए। उन्होंने सरस्वती की ओर प्रस्थान किया।

सरस्वता-तट का सुरम्य स्थान नाहुष ने देखा—अत्यंत मनोरम दृश्य। कल-कल बहता पवित्र जल। जल-प्रवाह का सुंदर संगीत। तटों पर दोनों ओर घने वृक्ष। दूर-दूर तक फैली पर्वत-शृंखलाएं!

ब्रह्मवर्त की पश्चिमी सीमा। गंगा, यमुना और शतद्रु का मध्य। दूर-दूर तक विस्तृत तट पर पंचजातियों का निवास। ऋषियों के सुमधुर स्वर से वेदमंत्रों का उच्चार।

नाहुष को यहां अपना संकल्प पूर्ण होता दिखाई पड़ा। उन्होंने सरस्वती को शिरसा प्रणाम किया और कहा, ''हे देवी सरस्वती! नाहुष का प्रणाम स्वीकार करें। हे सर्वसरिताओं की माता! सलिले! मैं यज्ञार्थी आपकी शरण में आया हूं। मैंने एक सहस्र वर्ष का दीर्घ-सत्र यज्ञ करने का संकल्प लिया है। मेरे इस शुभ संकल्प में मेरी सहायता करें। मैं आपकी स्तुति करता हूं।''

और...

देवी सरस्वती प्रकट हुईं।

''आपका स्वागत है, पृथ्वीपते! आपका कल्याण हो।''

नाहुष देवी-दर्शन कर प्रसन्न हो गए। पुनः बद्धांजलि स्तुति करने लगे

''हे देवी! मैं आपकी शरण आया हूं। आपका सुदृढ़ आश्रय चाहिए। हे उज्ज्वलवर्णा! हे प्रबल वेगधारिणी! हे कल्याणी! हे दर्शना! हे पूजनीया! मेरा संकल्प पूर्ण कराइए।''

''हे नरपति! शुभ कार्य में कभी बाधा नहीं आती। आपका यहां स्वागत है। यह भूमि यज्ञ-धूम्र से पहले ही सुरभित है। आपके सहस्रवर्षीय यज्ञ से यह और पावन हो जाएगी। आपका यश दिग्-दिगंत में फैलेगा। आपका कार्य अवश्य पूर्ण होगा।''

और...

करना ही है। और मैंने सर्वत्र भ्रमण कर देख लिया है कि सरिता-तट से अधिक समुचित स्थान और कहीं नहीं है इसलिए मेरी सहायता कीजिए।''

''हमारी भावनाएं आपके साथ ही हैं, राजन्। किंतु हमारी शक्ति इतनी नहीं है कि हम आपके एक सहस्र वर्ष के यज्ञ को सुनिश्चित कर सकें। यज्ञ के बीच में किसी प्रकार की बाधा पड़ गई तो आपका और हमारा भी अनिष्ट होगा। हम ऐसा नहीं चाहतीं।''

''किंतु मेरे संकल्प का क्या होगा?''

नदियों ने पुनः विचार-विमर्श किया। फिर अचानक जैसे कोई समाधान मिल गया हो। बोलीं, ''राजन्, आपका कल्याण हो। आप सरस्वती के पास जाइए। वहां आपका संकल्प अवश्य पूरा होगा।''

''सरस्वती।''

''हां! सरस्वती—वह एक सहस्र वर्ष तक यज्ञ-भाग लेने में समर्थ है।''

''वह कैसे?''

''वह विद्युत की पुत्री है। सारस्वत योद्धा की पत्नी है। असूया है।''

''क्या सरस्वती-तट पर यज्ञ हो पाएगा?''

नाहुष ने जिज्ञासा प्रकट की।

''हां राजन्! वहां आपकी कामना अवश्य पूरी होगी। वह परम पवित्र नदी है। सभी सरिताओं की माता है। सप्तस्वरीय है। पांच जातियों की पोषक है। उसका जल कभी अल्प नहीं होता। वह आपका सहस्र-वर्षीय दीर्घ-सत्र यज्ञ संपूर्ण कराने में समर्थ है।''

नाहुष ने पुनः आश्वस्त होने का प्रयास किया, ''क्या वहां यज्ञ होते रहते हैं?''

''हां, राजन् सरस्वती-तट पर यज्ञाग्नि सदैव प्रज्वलित रहता है। वहां सर्वदा सुवासित यज्ञ-धूम्र उठता रहता है। उसके तट पर राजा चित्र का महालय स्थित है। वे बड़े ही परोपकारी राजा हैं। सरस्वती-तट पर बसने वाले सभी वासी राजा चित्र के प्रचुर दान से फलते-फूलते हैं और सदैव प्रसन्नचित रहते हैं। उनकी शुभकामनाएं भी आपके यज्ञ की पूर्णता में

आपके काम आएंगी। सरस्वती का तट ऊर्जा से चेतन है। वह स्थान सब प्रकार से यज्ञ-आयोजन के लिए सुखकर एवं कल्याणकारी होगा।''

नाहुष आश्वस्त हुए। उन्होंने सरस्वती की ओर प्रस्थान किया।

सरस्वती-तट का सुरम्य स्थान नाहुष ने देखा—अत्यंत मनोरम दृश्य। कल-कल बहता पवित्र जल। जल-प्रवाह का सुंदर संगीत। तटों पर दोनों ओर घने वृक्ष। दूर-दूर तक फैली पर्वत-श्रृंखलाएं।

ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा। गंगा, यमुना और शतद्रु का मध्य। दूर-दूर तक विस्तृत तट पर पंचजातियों का निवास। ऋषियों के सुमधुर स्वर में वेदमंत्रों का उच्चार।

नाहुष को यहां अपना संकल्प पूर्ण होता दिखाई पड़ा। उन्होंने सरस्वती को शिरसा प्रणाम किया और कहा, ''हे देवी सरस्वती! नाहुष का प्रणाम स्वीकार करें। हे सर्वसरिताओं की माता! सलिले! मैं यज्ञार्थी आपकी शरण में आया हूं। मैंने एक सहस्र वर्ष का दीर्घ-सत्र यज्ञ करने का संकल्प लिया है। मेरे इस शुभ संकल्प में मेरी सहायता करें। मैं आपकी स्तुति करता हूं।''

और...

देवी सरस्वती प्रकट हुईं।

'आपका स्वागत है, पृथ्वीपते! आपका कल्याण हो।''

नाहुष देवी-दर्शन कर प्रसन्न हो गए। पुनः बद्धांजलि स्तुति करने लगे—

'हे देवी! मैं आपकी शरण आया हूं। आपका सुदृढ़ आश्रय चाहिए। हे उज्ज्वलवर्णा! हे प्रबल वेगधारिणी! हे कल्याणी! हे दर्शना! हे पूजनीया! मेरा संकल्प पूर्ण कराइए।''

''हे नरपति! शुभ कार्य में कभी बाधा नहीं आती। आपका यहां स्वागत है। यह भूमि यज्ञ-धूम्र से पहले ही सुरभित है। आपके सहस्रवर्षीय यज्ञ से यह और पावन हो जाएगी। आपका यश दिग्-दिगंत में फैलेगा। आपका कार्य अवश्य पूर्ण होगा।''

और...

सरस्वती तट पर एक विशाल यज्ञवेदी का निर्माण हो गया।

हवियां एकत्रित की जाने लगीं। घृतपात्र और दुग्धपात्र से यज्ञभूमि भर गई। हविष्यान्न का भंडार लग गया। पवित्र अरणियों का ढेर लग गया।

दूर-दूर से ऋषियों का आगमन प्रारंभ हुआ।

मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के साथ राजा नाहुष यज्ञवेदी पर विराजित हुए। शुभ संकल्प आरंभ हुआ। मंत्रोच्चार से पृथ्वी-आकाश एक हो गए। यज्ञ का सुगंधित धुआं दिग्-दिगंत में फैलने लगा। अग्निदेव हवि-ग्रहण करने लगे। मरुद्गण सहायक हुए। एक-एक देव का आवाहन होने लगा। वे साक्षात् प्रकट होकर शुभाशीष की वर्षा करने लगे। सरस्वती-तट सहस्र वर्षों तक दिव्य तेज से ज्योतिर्मय रहा।

# कच और देवयानी

आचार्य शुक्र।

असुरों के पुरोहित।

प्रकांड विद्वान्। नीतिज्ञ।

संसार की अद्वितीय विद्या—मृत-संजीवनी के एकमात्र धनी, जिसके कारण असुर अजेय हैं और देव संत्रस्त।

देवासुर-संग्राम में देव दिन-भर जितने असुरों का संहार करते, शाम को आचार्य शुक्र उन्हें अपनी संजीवनी विद्या से जीवित कर देते।

देव घटते जा रहे हैं, असुर बढ़ते जा रहे हैं। क्या उपाय हो?

मृत-संजीवनी विद्या देवों के पास भी होनी चाहिए।

देवाचार्य बृहस्पति से प्रेरणा लेकर उन्हीं का पुत्र कच, मृत-संजीवनी विद्या प्राप्त करने की लालसा लिए, असुर-छात्र के वेश में शुक्राचार्य के आश्रम के उद्यान में टहल रहा है।

उसे एक तरफ से कुछ स्त्रियों के हँसने का स्वर सुनाई पड़ा। वह ठिठक गया, मुड़कर देखा—कुछ असुरबालाएं उद्यान में चहलकदमी कर रही हैं। उनके बीच में जो युवती सबसे ज्यादा खिलखिला रही है, वह है स्वयं आचार्य शुक्र की इकलौती पुत्री देवयानी। जैसे तारों के बीच पूर्णिमा का चंद्रमा शोभायमान हो। अनिंद्य सुंदरी। परम विदुषी, हठीली, आश्रम रूपी सरोवर में खिलता कमल।

कच ने देखकर मुंह फेर लिया। वह देवयानी के विषय में सुन चुका था।

किंतु...

देवयानी की दृष्टि कच पर पड़ गई। उसकी हँसी रुक गई। पैर जड़ हो गए। सांसें टंग गईं। अपलक दृष्टि कच के चेहरे पर चिपक गई।

सरस्वती क  विन्न त  पर एक  शा  नज्ञवेदा   नर्माण हो गया।

हवियां एकत्रित की जाने लगीं। घृतपात्र और दुग्धपात्र से यज्ञभूमि भर गई। हविष्यान्न का भंडार लग गया। पवित्र अरणियों का ढेर लग गया।

दूर-दूर से ऋषियों का आगमन प्रारंभ हुआ।

मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के साथ राजा नाहुष यज्ञवेदी पर विराजित हुए। शुभ संकल्प आरंभ हुआ। मंत्रोच्चार से पृथ्वी-आकाश एक हो गए। यज्ञ का सुगंधित धुआं दिग्-दिगंत में फैलने लगा। अग्निदेव हवि-ग्रहण करने लगे। मरुद्गण सहायक हुए। एक-एक देव का आवाहन होने लगा। वे साक्षात् प्रकट होकर शुभाशीष की वर्षा करने लगे। सरस्वती-तट सहस्र वर्षों तक दिव्य तेज से ज्योतिर्मय रहा।

# कच और देवयानी

आचार्य शुक्र।

असुरों के पुरोहित।

प्रकांड विद्वान्। नीतिज्ञ।

संसार की अद्वितीय विद्या—मृत-संजीवनी के एकमात्र धनी, जिसके कारण असुर अजेय हैं और देव संत्रस्त।

देवासुर-संग्राम में देव दिन-भर जितने असुरों का संहार करते, शाम को आचार्य शुक्र उन्हें अपनी संजीवनी विद्या से जीवित कर देते।

देव घटते जा रहे हैं, असुर बढ़ते जा रहे हैं। क्या उपाय हो?

मृत-संजीवनी विद्या देवों के पास भी होनी चाहिए।

देवाचार्य बृहस्पति से प्रेरणा लेकर उन्हीं का पुत्र कच, मृत-संजीवनी विद्या प्राप्त करने की लालसा लिए, असुर-छात्र के वेश में शुक्राचार्य के आश्रम के उद्यान में टहल रहा है।

उसे एक तरफ से कुछ स्त्रियों के हँसने का स्वर सुनाई पड़ा। वह ठिठक गया, मुड़कर देखा—कुछ असुरबालाएं उद्यान में चहलकदमी कर रही हैं उनके बीच में जो युवती सबसे ज्यादा खिलखिला रही है, वह है स्वयं आचार्य शुक्र की इकलौती पुत्री देवयानी। जैसे तारों के बीच पूर्णिमा का चंद्रमा शोभायमान हो। अनिंद्य सुंदरी। परम विदुषी, हठीली, आश्रम रूपी सरोवर में खिलता कमल।

कच ने देखकर मुंह फेर लिया। वह देवयानी के विषय में सुन चुका था।

किंतु...

देवयानी की दृष्टि कच पर पड़ गई। उसकी हँसी रुक गई। पैर जड़ हो गए। सांसें टंग गईं। अपलक दृष्टि कच के चेहरे पर चिपक गई।

ऐसा सौंदर्य कैसी मोहनी मूर्ति ऐसा आकर्षक व्यक्तित्व मुखमंडल पर ब्रह्मवर्चस् का अनुपम तेज। जीवन में प्रथम बार किसी नई पीड़ा का अनुभव हुआ देवयानी को।

वह अपलक नेत्रों से युवा कच की मोहक छवि का पान करती रही। स्वयं को भूल गई।

सखियों ने भी उसकी दशा को भांप लिया। उसे झंझोड़ा और उद्यान से बाहर खींच ले गईं। वह खिंचती चली गई, किंतु उसका मन कच में अटककर वहीं रह गया। वह बेचैन हो गई।

और शाम को—

देवयानी ने देखा—वही मोहिनी मूर्ति उनके पिता आचार्य शुक्र के सामने हाथ जोड़े, सिर झुकाए खड़ी है। देवयानी कितनी उत्सुक थी उसे पुनः देखने को। वह निहाल हो गई। बटुवेश में उसका सहज सौंदर्य कितना आकर्षक लग रहा था! वह चुपचाप आकर उनके पास खड़ी हो गई और वार्तालाप सुनने लगी।

कच कह रहा था—

"चंद्रमा के समान आपका धवल यश सारे लोकों में फैला है, गुरुदेव। आप विद्यार्थी को कभी निराश वापस नहीं लौटाते। मृत-संजीवनी विद्या के एकमात्र आप ही स्वामी हैं। मैं, आचार्य बृहस्पति का पुत्र कच आपसे वही विद्या सीखने की लालसा लेकर आपकी शरण में आया हूं।"

"तेरा तेजस्वी व्यक्तित्व किसी को भी आकृष्ट कर सकता है, पुत्र। तूने अपनी मीठी बातों से मेरा मन भी जीत लिया है। तू बहुत चतुर और ज्ञानी है। हो भी क्यों न, आचार्य बृहस्पति का अंश है। वे मेरे गुरुभाई हैं। हम दोनों ने महर्षि अंगिरा से ही विद्या पाई थी। वे सरस्वती के भंडार हैं। किंतु...किंतु...वत्स! मैं तुम्हें मृत-संजीवनी का ज्ञान कैसे दे सकता हूं?"

"सर्वसमर्थ आचार्य के लिए भला क्या कठिनाई हो सकती है?" कच ने अधिक विनीत बनते हुए कहा।

"कठिनाई धर्म की है, वत्स! तू देवपुत्र है—असुरों का शत्रु। मैं

सुर पुरोहित हूं—उनका हितैषी।

"वाचालता क्षमा हो, गुरुदेव। इसमें तो मुझे कोई धर्मसंकट प्रतीत नहीं होता। पुरोहित के रूप में आप असुरों का हित करते रहिए और आचार्य के रूप में विद्यादान। बल्कि किसी योग्य विद्यार्थी को आचार्य के द्वारा विद्यादान से मना करना ही शायद आचार्य के धर्म के प्रतिकूल होगा? यदि मुझे योग्य शिष्य समझते हैं तो मुझ पर कृपा कीजिए, गुरुदेव।" कच ने आचार्य के चरण पकड़ लिए।

शुक्राचार्य उलझन में पड़ गए। यदि कच को मृत-संजीवनी विद्या सिखाते हैं तो असुर नाराज होते हैं और यदि उसे ना करते हैं तो आचार्य-धर्म से गिरते हैं। और एक बार धर्म से गिरे तो सब लोकों में अपयश हो जाएगा। क्या किया जाए?

आचार्य का मुंह लटक गया।

तभी देवयानी आकर पिता के कंधे से लिपट गई और बोली, "क्या उलझन है, पिताजी, आज तक तो कोई विद्यार्थी बिना कुछ लिए आपके आश्रम से लौटा नहीं है, फिर क्या इन्हीं को निराश करेंगे?"

शुक्राचार्य और गंभीर हो गए। कुछ बोल नहीं सके।

कच ने शुक्र के चरण छोड़ दिए। शब्दों में कुछ और मिठास लाकर बोला, "यदि मेरे कारण आचार्यश्री किसी गहरी उलझन में पड़ गए हैं तो मैं निश्चित रूप से अपराधी हूं। क्षमा-याचना करता हूं। मैं बिना संजीवनी विद्या प्राप्त किए ही वापस लौट जाऊंगा।"

"नहीं, तुम खाली हाथ वापस नहीं लौटोगे, वत्स!" शुक्राचार्य ने गंभीर वाणी में ही कहा, "मैं आचार्य-धर्म का पालन करूंगा। तुम्हारे जैसा होनहार शिष्य पाकर कोई भी आचार्य गर्व कर सकता है।"

"धन्य हैं, गुरुदेव। आप महान् हैं।" कहता हुआ कच पुनः आचार्य के चरणों में गिर पड़ा।

शुक्र ने अपना हाथ उसके सिर पर रख लिया।

देवयानी गद्गद् हो गई। वह अपने पिता से लिपट गई और कनखियों से कच को देखने लगी।

कच शिष्य-भाव से आश्रम में रहने लगा। उसने अपने व्यवहार और

—सा सौंदर्य कैसा हिना मूर्ति ऐसा आकर्षक व्यक्तित्व मुखमंडल पर ब्रह्मवर्चस् का अनुपम तेज। जीवन में प्रथम बार किसी नई पीड़ा का अनुभव हुआ देवयानी को।

वह अपलक नेत्रों से युवा कच की मोहक छवि का पान करती रही। स्वयं को भूल गई।

सखियों ने भी उसकी दशा को भांप लिया। उसे झंझोड़ा और उद्यान से बाहर खींच ले गईं। वह खिंचती चली गई, किंतु उसका मन कच में अटककर वहीं रह गया। वह बेचैन हो गई।

और शाम को—

देवयानी ने देखा— वही मोहिनी मूर्ति उनके पिता आचार्य शुक्र के सामने हाथ जोड़े, सिर झुकाए खड़ी है। देवयानी कितनी उत्सुक थी उसे पुनः देखने को! वह निहाल हो गई। बटुवेश में उसका सहज सौंदर्य कितना आकर्षक लग रहा था। वह चुपचाप आकर उनके पास खड़ी हो गई और वार्तालाप सुनने लगी।

कच कह रहा था—

''चंद्रमा के समान आपका धवल यश सारे लोकों में फैला है, गुरुदेव। आप विद्यार्थी को कभी निराश वापस नहीं लौटाते। मृत-संजीवनी विद्या के एकमात्र आप ही स्वामी हैं। मैं, आचार्य बृहस्पति का पुत्र कच आपसे वही विद्या सीखने की लालसा लेकर आपकी शरण में आया हूं।''

''तेरा तेजस्वी व्यक्तित्व किसी को भी आकृष्ट कर सकता है, पुत्र। तूने अपनी मीठी बातों से मेरा मन भी जीत लिया है। तू बहुत चतुर और ज्ञानी है। हो भी क्यों न, आचार्य बृहस्पति का अंश है। वे मेरे गुरुभाई हैं। हम दोनों ने महर्षि अंगिरा से ही विद्या पाई थी। वे सरस्वती के भंडार हैं। किंतु...किंतु...वत्स! मैं तुम्हें मृत-संजीवनी का ज्ञान कैसे दे सकता हूं?''

''सर्वसमर्थ आचार्य के लिए भला क्या कठिनाई हो सकती है?'' कच ने अधिक विनीत बनते हुए कहा।

''कठिनाई धर्म की है, वत्स! तू देवपुत्र है—असुरों का शत्रु। मैं

असुर पुरोहित हूं—उनका हितैषी।

वाचालता क्षमा हो, गुरुदेव। इसमें तो मुझे कोई धर्मसंकट प्रतीत नहीं होता। पुरोहित के रूप में आप असुरों का हित करते रहिए और आचार्य के रूप में विद्यादान। बल्कि किसी योग्य विद्यार्थी को आचार्य के द्वारा विद्यादान से मना करना ही शायद आचार्य के धर्म के प्रतिकूल होगा? यदि मुझे योग्य शिष्य समझते हैं तो मुझ पर कृपा कीजिए, गुरुदेव ' कच ने आचार्य के चरण पकड़ लिए।

शुक्राचार्य उलझन में पड़ गए। यदि कच को मृत-संजीवनी विद्या सिखाते हैं तो असुर नाराज होते हैं और यदि उसे ना करते हैं तो आचार्य-धर्म से गिरते हैं। और एक बार धर्म से गिरे तो सब लोकों में अपयश हो जाएगा। क्या किया जाए?

आचार्य का मुंह लटक गया।

तभी देवयानी आकर पिता के कंधे से लिपट गई और बोली, क्या उलझन है, पिताजी, आज तक तो कोई विद्यार्थी बिना कुछ लिए आपके आश्रम से लौटा नहीं है, फिर क्या इन्हीं को निराश करेंगे?''

शुक्राचार्य और गंभीर हो गए। कुछ बोल नहीं सके।

कच ने शुक्र के चरण छोड़ दिए। शब्दों में कुछ और मिठास लाकर बोला 'यदि मेरे कारण आचार्यश्री किसी गहरी उलझन में पड़ गए हैं तो मैं निश्चित रूप से अपराधी हूं। क्षमा-याचना करता हूं। मैं बिना संजीवनी विद्या प्राप्त किए ही वापस लौट जाऊंगा।''

नहीं, तुम खाली हाथ वापस नहीं लौटोगे, वत्स!'' शुक्राचार्य ने गंभीर वाणी में ही कहा, ''मैं आचार्य-धर्म का पालन करूंगा। तुम्हारे जैसा होनहार शिष्य पाकर कोई भी आचार्य गर्व कर सकता है।''

धन्य हैं, गुरुदेव। आप महान् हैं।'' कहता हुआ कच पुनः आचार्य के चरणों में गिर पड़ा।

शुक्र ने अपना हाथ उसके सिर पर रख लिया।

देवयानी गद्‌गद् हो गई। वह अपने पिता से लिपट गई और कनखियों से कच को देखने लगी।

कच शिष्य-भाव से आश्रम में रहने लगा। उसने अपने व्यवहार और

निष्ठापूर्वक की गई सेवा से आचार्य का चित्त प्रसन्न किया कि [illegible] अपनी निजी कुटिया के पास ही एक कुटीर उसे निवास के लिए दे दिया।

और देवयानी की तो उस पर कृपादृष्टि थी ही। वह उनके परिवार का ही एक सदस्य बन गया। देवयानी प्रायः उसके साथ ही रहती। उसकी दिनचर्या कच की दिनचर्या ही बन गई। कच दिन-भर के काम जल्दी निपटाकर गुरु की गौएं चराने ले जाता।

एक दिन गोधूलि वेला में भी कच नहीं लौटा। गौएं इधर-उधर भटकती, रंभाती हुई आश्रम में वापस आ गईं। रात हो चली, किंतु कच का कहीं पता नहीं। देवयानी के लिए एक-एक पल कठिनाई से बीत रहा था। वह घबराकर पिता के पास गई।

आचार्य शुक्र भी यह सुनकर शंकित हो गए। उन्हें पता था कि कच प्रमादवश कहीं नहीं रह सकता। उनको ऐसी किसी घटना की आशंका तो थी ही, क्योंकि कच और देवयानी के घनिष्ठ संबंधों की चर्चा सारी असुरपुरी में फैल गई थी। और जिसका डर था वही हुआ— असुरों ने कच को पहचान लिया और उसको पकड़कर एक पहाड़ की चोटी से धकेलकर मार दिया।

आचार्य शुक्र ने तुरंत अपनी मृत-संजीवनी विद्या से कच को जीवित कर दिया।

अब कच कुछ सावधान रहने लगा। देवयानी ने उसका गौएं चराने के लिए जाना बंद कर दिया।

किंतु असुर कच के पीछे लगे हुए थे। वे शुक्राचार्य या देवयानी को तो कुछ कह नहीं सकते थे, किंतु अपने शत्रु को यहां कैसे सहन कर सकते थे। एक दिन उन्होंने आश्रम से ही कच को फिर चकमा देकर उठा लिया और उसका वध करके उसके टुकड़े-टुकड़े कर समुद्र में फेंक दिया।

कच के लिए विकल-विह्वल देवयानी के आग्रह करने पर आचार्य ने ध्यान लगाया। वास्तविक स्थिति समझ में आ गई। आचार्य शुक्र ने पुनः अपनी विद्या का उपयोग कर समुद्र में फैले अलग-अलग टुकड़ों को एक कर दिया। जीवित होकर कच लड़खड़ाता हुआ आश्रम में आ पहुंचा।

देवयानी ने अब उस पर कड़े प्रतिबंध लगा दिए। उसका अपनी कुटिया से निकलना बिलकुल बंद कर दिया। वह स्वयं साये की तरह सदा उसके साथ रहती। कच का एक पल का बिछोह भी वह सहन नहीं कर सकती थी। कच सारा दिन अपनी कुटिया में ही पूजा-पाठ एवं स्वाध्याय में व्यस्त रहने लगा।

समय बीतता गया स्मृतियां, शत्रुत्व, भय एवं आशंका कच के मन में क्षीण होने लगीं। देवयानी भी कुछ उदार हो गई। कच ने अब आश्रम के उद्यान में टहलने की आज्ञा भी देवयानी से ले ली और वह इधर-उधर फिरने लगा।

किंतु असुर नहीं भूले थे। कच की आचार्य शुक्र के आश्रम में उपस्थिति उन्हें कांटे की तरह चुभती रहती थी। उनके हृदय में प्रचंड द्वेषाग्नि धधक रही थी।

और एक दिन फिर...

कच उद्यान में अकेला ही टहलता हुआ फूलों के रंग देख रहा था। भ्रमरों की गुनगुनाहट उसे आकृष्ट कर रही थी। तितलियां उसे बांध-सी रही थीं मदमाता पवन उसे ठग रहा था।

असुर घात लगाए बैठे थे। कुल्हाड़े के एक ही वार में उन्होंने कच का सिर धड़ से अलग कर दिया। फिर इधर-उधर से लकड़ियों को बटोरा और उसके शव को जलाकर राख दिया। वे राख को भी बांधकर साथ ले गए। राख को पीसकर असुरों ने उसे मदिरा में घोल दिया और वह मदिरा आचार्य शुक्र को ही पिला दी।

कच को फिर गायब देखकर देवयानी रोने लगी। वह आश्रम के कोने कोने में जाकर चिल्ला-चिल्लाकर उसे पुकारने लगी। आखिर थककर वह अपने पिता के पास पहुंची और मूर्च्छित हो गई। आचार्य संध्या में ध्यानमग्न थे। धमाके से उनका ध्यान भंग हुआ। निकट ही अपनी इकलौती प्यारी पुत्री को अचेत पड़ी देखकर व्याकुल हो गए।

देवयानी के मुंह पर मंत्रपूरित जल के कुछ छींटे दिए। उसकी चेतना लौट आई।

आचार्य ने ध्यान लगाकर देखा किंतु इस बार कच का कुछ भी

पता नहीं चला। उनका ध्यान सर्वत्र घूम रहा है—लेकिन कहीं से कोई स्वर सुनाई नहीं पड़ रहा है।

शुक्राचार्य ने एक गहरी सांस ली और थके हुए-से बोले, "पुत्री, कच का कुछ पता नहीं चल रहा है। किंतु तुम जैसी विदुषी के लिए एक साधारण मरणधर्मा प्राणी के लिए इतना मोह करना उचित नहीं लगता। और फिर कच पहले भी दो बार शरीर त्याग चुका है। उसकी उम्र वैसे भी बहुत थोड़ी रह गई है। यदि मैं किसी तरह उसको जीवित भी कर दूंगा, पुत्री, तो वह पुन: थोड़े ही दिनों में फिर इसी तरह मर जाएगा, इसलिए तू उसे भूल जा।"

देवयानी को ये शब्द कोड़े की तरह लगे। वह छटपटा गई। बोली, "कैसी अशुभ बातें कर रहे हो, तात! कच आपकी शरण में आया हुआ है। वह आपका शिष्य है! उसकी सुरक्षा और कुशलता का भार आपके ऊपर है। यदि ऐसा ही सोचना था तो आप पहले ही कच को शिष्य स्वीकार करने से मना कर देते। वह वापस लौट जाता, ब्रह्महत्या का दोष तो आप पर न लगता। अपने संरक्षित होनहार शिष्य को आप भूल जाने को कहते हैं। यह अनुचित है, पिताजी।"

शुक्राचार्य और अधिक धर्मसंकट में फंसा हुआ अनुभव करने लगे। वह देवयानी को मनाने का एक बार और प्रयत्न करने लगे। उपालंभ के स्वर में बोले, "पुत्री, मेरा धर्म तो मैं देख लूंगा, किंतु मुझे आश्चर्य है कि तुम कच के लिए इतनी उत्सुक क्यों हो! इतनी पागल क्यों हो रही हो उसके पीछे? मेरे तप के प्रभाव से स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवराज इंद्र, आठों वसु, दोनों अश्विनीकुमार, सभी देव, दनुज, असुर, गंधर्व, नाग इत्यादि सब तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो सकते हैं, फिर तुम एक कच के लिए ही इतनी व्यग्र क्यों होती हो?"

देवयानी बात सुनकर कुछ लजा गई। उसके कपोल रक्तिम हो गए। आंखें झुक गईं। फिर भी अपने को सहज करती-सी बोली, "पिताजी, मेरे लिए कच इन सबसे ऊपर है। मैं उसके बिना एक घड़ी भी जीवित नहीं रह सकती...और फिर आपके लिए ऐसी कौन-सी बात है जो असंभव जान पड़ती है। कच को पुन: बुलाइए, पिताजी। पुकारिए

उन्हें। पुकारिए।''

देवयानी बहुत व्याकुल हो उठी थी।

और चिंतित हो उठे आचार्य शुक्र।

उन्होंने पुनः गहरी समाधि लगाई। उनके मुख से अस्फुट मंत्र-ध्वनि निकलकर वातावरण में एक गति, एक लय बनाने लगी। धरती-आकाश जैसे मंत्रों से बिंधते जा रहे हों। लगा जैसे वे अपनी साधना की सारी पूंजी आज दांव पर लगा रहे हैं। पवन की गति रुक गई। सूर्य-चंद्र जैसे ठहर गए। सारे आकाश में अस्फुट मंत्र-स्वर गूंज रहे हैं। सहसा उन्होंने मंत्रों का उच्चारण बंद किया और आंखें बंद किए ही बोले, ''बेटा कच! मैं तेरा आह्वान करता हूं। तू जहां भी है, तुरंत आवाज दे!''

मैं यहां हूं, गुरुदेव, आपके उदर में! मुझे अब मत बुलाइए!''

मेरे उदर में?'' शुक्र आश्चर्यचकित रह गए।

देवयानी विस्फारित नेत्रों से पिता को देखने लगी।

लेकिन मेरे उदर में तू कैसे आया, पुत्र?''

आपकी कृपा से मैं जीवित हो गया हूं, गुरुदेव! और मेरी स्मृति भी काम कर रही है। मैं आपके उदर में आने की घटना बताता हूं।''

और कच ने सारी घटना कह सुनाई और फि कहा, ''अब मुझे मत बुलाइए, गुरुदेव! मैं बाहर आऊंगा तो आपका उदर फट जाएगा।''

शुक्राचार्य देवयानी की ओर देखने लगे।

वह तो अचेत होने को थी। रोने लगी। बोली, ''दोनों तरह मेरी मुसीबत है, पिताजी। न मैं आपको त्याग सकती हूं, न कच को। कोई उपाय सोचिए, तात!'' हठीली देवयानी जिद करने लगी।

शुक्र फिर गंभीर हो गए।

कुछ क्षण बाद उनके मुख पर प्रसन्नता छा गई जैसे प्रश्न हल हो गया हो। वे बोले, ''बेटा कच! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं। तुमने इतने दिन तक यहां आकर हमारी सेवा की, किंतु एक बार भी अपने मुख से मृत-संजीवनी विद्या सीखने की बात नहीं की। लो, आज मैं स्वयं वह कार्य करता हूं, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करता हूं, जिसके लिए तुम मेरे पास आए थे

म जन्म भी हो और जैसा स्थिति वह मृत संजीव का ज्ञान सीखो बा फिर तुम मेरा उदर फाड़कर बाहर जाना और मृत संजीवन के बल से मुझे जीवित कर देना

"कितनी सुंदर युक्ति है! आप सचमुच महान् हैं, पिताजी!" देवयानी मुसकरा दी।

शुक्राचार्य उदरस्थ कच को संजीवनी का ज्ञान देने लगे।

और थोड़ी देर में कच आचार्य का उदर फाड़कर बाहर निकल आया। उसने सबसे पहले अभी-अभी सीखी विद्या का प्रयोग गुरु पर ही किया। आचार्य शुक्र जीवित हो गए।

कच ने प्रथम बार अपनी विद्या के सफल होने का आनंद अनुभव किया।

आचार्य ने कच को अपने अंक में भर लिया। आशीर्वाद देते हुए बोले, "कच! तू सचमुच एक महान् पिता का महान् पुत्र है। तू चाहता तो मुझे मृत छोड़ देता। फिर अकेला तू ही इस संसार में इस विद्या का स्वामी होता। देव अमर हो जाते और असुरों का नाश होता। तू धन्य है, पुत्र!"

"ऐसा न कहें, गुरुदेव! ऐसा तो सोचना भी पाप है। मैं अपना धर्म कैसे छोड़ सकता हूं?"

शुक्राचार्य अग्निशाला की ओर चले गए। वे बहुत प्रसन्न थे।

दुर्लभ मृत-संजीवनी विद्या प्राप्त कर कच का तेज सूर्य की भांति दमकने लगा। उसे अपार संतोष का अनुभव हुआ। लगा, अब उसे संसार में कुछ भी प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं है। वह अब पूर्ण है।

उधर देवयानी को अपना स्वप्न-संसार फलीभूत होता प्रतीत हुआ। वह कच के जिस रूप-सौंदर्य के प्रथम दर्शन से ही पीड़ित थी, लगा उसे प्राप्त करके अब शीतलता मिल जाएगी। कच को उसने मन ही मन पति स्वीकार कर लिया था।

कैसी सुंदर थी उसकी कल्पना! पिता—अजेय असुरों के पुरोहित, संजीवनी के प्रथम धनी, सारे लोकों में पूज्य! और पति भी—मृत-संजीवनी

न नाता, अनुपम तन-सौंदर्यशाली!

ससुर—देवाचार्य बृहस्पति, प्रकांड विद्वान्!

स्वराज इंद्र का अभिनंदन करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का स्न रोज अवसर मिलेगा। वह देववधू होगी।

देवयानी कच की कुटिया में गई। वह अपनी भावी योजना में निमग्न बैठा था। देवयानी के आते ही खड़ा होकर उसका श्रद्धा से अभिनन्दन किया और कृतज्ञता में हाथ जोड़ लिए।

देवयानी ने अपने-आपको इतने दिन तक बड़ी मुश्किल से संभाला था। उसने भागकर कच को अपने क्षुधित अंक में भर लिया। बुदबुदाने लगी, "मेरे कच...मेरे सर्वस्व...मेरे पतिदेव!"

कच चौंक गया। इस आकस्मिक संबोधन से वह स्तब्ध सा रह गया।

उसने एक झटके से देवयानी से अपने-आपको छुड़ाया और दूर खड़ा हो गया। हाथ जोड़कर बोला, "ये क्या कहती हो, देवयानी? तुम गुरुपुत्री हो! मेरी बहन—मेरे लिए गुरु के समान ही पूज्य। तुमने मुझ पर बहुत उपकार किए हैं। मैं कृतज्ञ हूं। मुझे आशीर्वाद दो, देवी...किंतु मैं तो तुम्हारे साथ ऐसे संबंध की कल्पना भी नहीं कर सकता।"

देवयानी हतप्रभ रह गई। उसकी आंखों के सामने अंधेरा-सा छाने लगा। उसका स्वप्न भंग हो गया जैसे आकाश से धरती पर गिर गई हो। बोली, "कच! मेरे सपनों को यूं ठोकर मत मारो! तुम्हें पता नहीं, मैं तुम्हें खोकर जीवित नहीं रह सकती। फिर तुम्हें इतना प्यार करने वाली और कोई स्त्री इस संसार में नहीं मिलेगी। मेरा अपमान न करो, कच! मेरे प्यार को लज्जित न करो।"

देवयानी की इस कातर्त वाणी को सुनकर कच व्यथित हो गया। किंतु धैर्य धारण कर संयत स्वर में बोला—

"आर्ये! शुभव्रते! मैं आपके इस निंदनीय प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। जरा सोचिए, आचार्य के जिस शरीर से आपकी उत्पत्ति हुई है, मैं भी उसी की कुक्षि में निवास कर चुका हूं। हमारा प्रेम भाई-बहन जैसा ही हो सकता है, दूसरा नहीं। मुझ पर कृपा करें, देवी! मुझे

आशीर्वाद दें कि मेरा विद्या फलवती हो, मेरा जीवन सुखी हो।

देवयानी का धैर्य टूट गया। उसकी काम-बुद्धि द्वेष-बुद्धि हो गई। आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं। वह सर्पिणी की भांति दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई बोली—

"नहीं! तुम कुटिल हो! तुमने मुझे धोखा दिया है। जाओ, मैं तुम्हें शाप देती हूं कि तुम्हारी संजीवनी विद्या फलवती नहीं होगी। तुम इसका उपयोग कभी नहीं कर सकोगे!"

कच ने सिर झुका लिया। फिर भी वह अविचलित ही रहा। बोला, "देवयानी! तुम अपनी मर्यादा से गिर सकती हो, किंतु मैं नहीं गिरूंगा। मैंने यह विद्या अपने लिए नहीं सीखी थी। जिनके लिए मैंने प्राप्त की थी, उनके काम यह अब भी आएगी। मैं स्वयं इसका उपयोग न कर सकूंगा, किंतु देवों में से किसी एक को यह संजीवनी विद्या दे दूंगा। वह इसका उपयोग कर लेगा। हां, तुमने अवश्य एक ब्राह्मणी होने के विपरीत कार्य किया है। कामातुर, क्रोधातुर होकर एक ब्राह्मण-कन्या का शील त्याग दिया है। इसलिए तुम्हारी काम-वासना की तृप्ति तुम्हारी इच्छानुसार कभी नहीं होगी। जाओ, मैं भी तुम्हें शाप देता हूं कि ब्राह्मण-कन्या होने पर भी तुम्हारा विवाह किसी ब्राह्मण से नहीं होगा।"

दोनों की कटुवाणी विष की तरह सारे आश्रम में फैल गई। फूल मुरझा गए। पवन दुर्गंधित हो गई। पक्षी व्याकुल हो भागने लगे।

शुक्राचार्य व्यथित हो गए।

कच ने श्रद्धापूर्वक गुरुदेव को प्रणाम किया और देवलोक की ओर चल पड़ा, जहां अमरों की तृषित आंखें व्याकुल हो उसका आह्वान कर रही थीं।

देवयानी कटे हुए द्रुम की तरह अचेत हो जमीन पर गिर पड़ी।

कई वर्ष पश्चात् उसका विवाह वास्तव में किसी ब्राह्मण से न होकर क्षत्रिय राजा ययाति से हुआ। कदाचित् देव-संस्कारों से संपन्न तेजस्वी कच का शाप ही इसके मूल में था।

# शर्मिष्ठा का मान–मर्दन

शर्मिष्ठा : असुर-सम्राट् वृषपर्वा की इकलौती पुत्री— चंचल और अभिमानी राजकुमारी।

सारे दरबारी उसके उलूल-जलूल आदेशों से आतंकित थे किंतु मौन रहते कौन बोले? पुरजन, परिजन और स्वयं सम्राट् भी उसके जिद्दी और अभिमानी स्वभाव से भीतर ही भीतर सुलगते रहते हैं।

देवयानी—

असुर-पुरोहित शुक्राचार्य की एकमात्र पुत्री।

अपूर्व सुंदरी। विदुषी। मानिनी। अहंकारिणी।

शर्मिष्ठा से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई।

असुरों के हितार्थ मृत-संजीवनी विद्या के एकमात्र अधिष्ठाता आचार्य शुक्र की पुत्री होने के कारण असुरराज भी उसकी इच्छाओं के सामने झुकते हैं।

सारा असुरलोक दोनों लाडली पुत्रियों के अनर्गल आदेशों एवं अभिलाषाओं से त्रस्त है। दोनों कन्याओं का स्पर्द्धाजनित वैमनस्य भी जगत प्रसिद्ध है।

असुर-द्रोही देवराज इंद्र अवसरवादी रहा है। उसने इस वैमनस्य से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की सोची—एक षड्यंत्र रचा और चंचल मरुत को अपना कार्यक्रम समझाया। और दोनों ने छद्मवेश में असुर राजधानी में प्रवेश किया।

असुर राज-परिवार का विशाल उद्यान में सुगंधित जल से भरा हुआ सरोवर

शर्मिष्ठा अपनी सहेलियों और दासियों के साथ जल-क्रीड़ा में

निमग्न हैं। आचार्य-पुत्री देवयानी और उसकी दासियां भी संग में हैं।

सबने अपने रंग-बिरंगे बहुमूल्य कौशेय वस्त्रों को उतारकर सरोवर के निकट ही रख लिया है। स्वच्छ और आह्लादपूर्ण वातावरण देखकर उन्होंने अपनी-अपनी कंचुकियों को भी निकालकर वस्त्रों में रख दिया। दासियों ने विशेष रूप से शर्मिष्ठा और देवयानी के वस्त्रों को मणिमंडित सीढ़ियों पर संभालकर रख दिया।

फिर असुरबालाएं आमोद-प्रमोद से भरी, उमंग में क्रीड़ा करती हुई, एक-दूसरी के ऊपर जल के छींटे फेंकने लगीं और परस्पर हास-परिहास करने लगीं।

और तभी इंद्र का संकेत पाकर मरुत चंचल हो उठा। मंद समीर अचानक तेज वात्याचक्र में बदल गया। उद्यान के वृक्ष हिल उठे। चारों तरफ पत्र और पुष्पों की पंखुरियां बिखरने लगीं। वातावरण धूल-धूसरित हो गया। बवंडर के वेग से सरोवर का जल भी मिट्टी के कणों से आच्छादित हो, हिलोरें लेकर आकाश छूने लगा। बालाओं के नेत्रों में धूल-कण गिरने लगे। सुंदर शरीर मिट्टी से आवृत होने लगा और उनके सतरंगे वस्त्र धूल-धूसरित होकर उद्यान में इधर-उधर बिखर, आपस में मिल गए।

आंधी ने राजकुमारी और दासी का भेद मिटा दिया। असुर-कन्याएं भयभीत होकर अपनी दासियों से लिपट गईं। अपने विवसन अंगों को अपने ही हाथों से ढकने लगीं। मरुत ने तांडव-रूप धारण कर लिया।

और जब भयकातर राजबालाएं थककर निढाल हो गईं तो पवन का बवंडर शनैः-शनैः स्वयं शांत हो गया। धूल समाप्त हुई। पुनः शीतल पवन अपनी मादकता में बहने लगी। असुर-कन्याएं जल से निकलकर मणिजड़ित सोपानों पर खड़ी हो गईं। दासियां वस्त्रों की खोज में इधर-उधर भागीं। कौन-सा किसका वस्त्र है, पहचानना कठिन हो गया। फिर भी प्रयत्न कर दासियों ने अपनी-अपनी स्वामिनियों के सुंदर राजसी वस्त्र ढूंढ़कर उनके शरीर पर सजा दिए।

शर्मिष्ठा और देवयानी के वस्त्र एवं अलंकरण लगभग एक समान थे। भूल हो गई—देवयानी के वस्त्र शर्मिष्ठा को पहना दिए गए और

शर्मिष्ठा के देवयानी को। उस समय किसी भी वस्त्र की पहचान नहीं हो सकी

इन्द्र का षड्यंत्र सफल हो गया। वह कौतुक देखने लगा।

शर्मिष्ठा की दृष्टि अचानक अपने वस्त्रों पर गई। कुछ छींटे-से लगे हुए थे। यह क्या? ध्यान से देखा। वस्त्रों पर आचार्य शुक्र के आशीर्वाद का मंत्र-सिंचित चंदन लगा हुआ है। ओह! ये तो देवयानी के वस्त्र हैं!

शर्मिष्ठा ने देवयानी की ओर देखा—उसके तन पर सचमुच शर्मिष्ठा के वस्त्र सजे हुए थे!

शर्मिष्ठा आग बबूला हो गई—एक सम्राट् की इकलौती पुत्री के वस्त्रों को एक ब्राह्मण-कन्या पहने? उसका इतना दुस्साहस और उसे पहना दिए गए हैं उसी के पिता द्वारा एक ब्राह्मण को दान-दक्षिणा में दिए गए ब्राह्मण-कन्या के वस्त्र। उन वस्त्रों पर लगे चंदन के छींटे शर्मिष्ठा को कांटों के समान प्रतीत होने लगे। वह क्रुद्ध होकर कांपने लगी। उसने आवेश में वस्त्र पहनाने वाली दासी को गले से पकड़ लिया और उसे ऐसा धक्का दिया कि वह बेचारी धूल चाटने लगी।

सारी सहेलियां और दासियां अपनी स्वामिनी के अचानक परिवर्तित रौद्र रूप को देखकर भय से कांपने लगीं। शर्मिष्ठा अपनी तपती आंखों से जिसको भी देख लेती उसे मानो सांप सूंघ जाता।

आखिर देवयानी को ही बोलना पड़ा, "क्या हुआ, शर्मिष्ठा? एक बेचारी असहाय दासी पर अकारण इतना क्रोध किसलिए?"

शर्मिष्ठा की क्रोधाग्नि में देवयानी के इन शब्दों ने घी का काम कर दिया। वही तो उसके क्रोध का कारण थी। वह गरज उठी—

"ब्राह्मण-पुत्री! तूने आज एक सम्राट् की पुत्री के वस्त्र पहनने का दुस्साहस किया है। कदाचित तुझे ज्ञात नहीं है कि एक राजकुमारी के नववस्त्रों को चुराकर पहनने वाले को कैसी कठोर यातना दी जाती है। मेरे पिता के अन्न पर पलने वाली ब्राह्मण-कन्या! आज तुझे अपने किए का फल भोगना ही पड़ेगा।"

देवयानी इन वाग्बाणों से आहत स्तंभित रह गई। वह कुछ भी कारण नहीं समझ सकी। बार-बार अपने वस्त्रों को देखने लगी। समझ

निमग्न है। आचार्य-पुत्री देवयानी और उसकी दासियां भी संग में हैं।

सबने अपने रंग-बिरंगे बहुमूल्य कौशेय वस्त्रों को उतारकर सरोवर के निकट ही रख लिया है। स्वच्छ और आह्लादपूर्ण वातावरण देखकर उन्होंने अपनी-अपनी कंचुकियों को भी निकालकर वस्त्रों में रख दिया। दासियों ने विशेष रूप से शर्मिष्ठा और देवयानी के वस्त्रों को मणिमंडित सीढ़ियों पर संभालकर रख दिया।

फिर असुरबालाएं आमोद-प्रमोद से भरी, उमंग में क्रीड़ा करती हुई, एक दूसरी के ऊपर जल के छींटे फेंकने लगीं और परस्पर हास-परिहास करने लगीं।

और तभी इंद्र का संकेत पाकर मरुत चंचल हो उठा। मंद समीर अचानक तेज वात्याचक्र में बदल गया। उद्यान के वृक्ष हिल उठे। चारों तरफ पत्र और पुष्पों की पंखुड़ियां बिखरने लगीं। वातावरण धूल-धूसरित हो गया। बवंडर के वेग से सरोवर का जल भी मिट्टी के कणों से आच्छादित हो, हिलोरें लेकर आकाश छूने लगा। बालाओं के नेत्रों में धूल-कण गिरने लगे। सुंदर शरीर मिट्टी से आवृत होने लगा और उनके सतरंगे वस्त्र धूल-धूसरित होकर उद्यान में इधर-उधर बिखर, आपस में मिल गए।

आंधी ने राजकुमारी और दासी का भेद मिटा दिया। असुर-कन्याएं भयभीत होकर अपनी दासियों से लिपट गईं। अपने निवसन अंगों को अपने ही हाथों से ढकने लगीं। मरुत ने तांडव-रूप धारण कर लिया।

और जब भयकातर राजबालाएं थककर निढाल हो गईं तो पवन का बवंडर शनैः-शनैः स्वयं शांत हो गया। धूल समाप्त हुई। पुनः शीतल पवन अपनी मादकता में बहने लगी। असुर-कन्याएं जल से निकलकर मणिजड़ित सोपानों पर खड़ी हो गईं। दासियां वस्त्रों की खोज में इधर-उधर भागीं। कौन-सा किसका वस्त्र है, पहचानना कठिन हो गया। फिर भी प्रयत्न कर दासियों ने अपनी-अपनी स्वामिनियों के सुंदर राजसी वस्त्र ढूंढ़कर उनके शरीर पर सजा दिए।

शर्मिष्ठा और देवयानी के वस्त्र एवं अलंकरण लगभग एक समान थे। भूल हो गई—देवयानी के वस्त्र शर्मिष्ठा को पहना दिए गए और

शर्मिष्ठा के देवयानी को। उस समय किसी भी वस्त्र की पहचान नहीं हो सकी

इन्द्र का षड्यंत्र सफल हो गया। वह कौतुक देखने लगा।

शर्मिष्ठा की दृष्टि अचानक अपने वस्त्रों पर गई। कुछ छींटे-से लगे हुए थे यह क्या? ध्यान से देखा। वस्त्रों पर आचार्य शुक्र के आशीर्वाद का मन्त्र-सिंचित चंदन लगा हुआ है। ओह! ये तो देवयानी के वस्त्र हैं!

शर्मिष्ठा ने देवयानी की ओर देखा— उसके तन पर सचमुच शर्मिष्ठा के वस्त्र सजे हुए थे!

शर्मिष्ठा आग बबूला हो गई—एक सम्राट् की इकलौती पुत्री के वस्त्रों को एक ब्राह्मण-कन्या पहने? उसका इतना दुस्साहस और उसे पहना दिए गए हैं उसी के पिता द्वारा एक ब्राह्मण को दान-दक्षिणा में दिए गए ब्राह्मण-कन्या के वस्त्र। उन वस्त्रों पर लगे चंदन के छींटे शर्मिष्ठा को कांटों के समान प्रतीत होने लगे। वह क्रुद्ध होकर कांपने लगी। उसने आवेश में वस्त्र पहनाने वाली दासी को गले से पकड़ लिया और उसे ऐसा धक्का दिया कि वह बेचारी धूल चाटने लगी।

सारी सहेलियां और दासियां अपनी स्वामिनी के अचानक परिवर्तित रौद्र रूप को देखकर भय से कांपने लगीं। शर्मिष्ठा अपनी तपती आंखों से जिसको भी देख लेती उसे मानो सांप सूंघ जाता।

आखिर देवयानी को ही बोलना पड़ा, "क्या हुआ, शर्मिष्ठा? एक बेचारी असहाय दासी पर अकारण इतना क्रोध किसलिए?"

शर्मिष्ठा की क्रोधाग्नि में देवयानी के इन शब्दों ने घी का काम कर दिया वही तो उसके क्रोध का कारण थी। वह गरज उठी—

ब्राह्मण-पुत्री! तूने आज एक सम्राट् की पुत्री के वस्त्र पहनने का दुस्साहस किया है। कदाचित तुझे ज्ञात नहीं है कि एक राजकुमारी के नववस्त्रों को चुराकर पहनने वाले को कैसी कठोर यातना दी जाती है। मेरे पिता के अन्न पर पलने वाली ब्राह्मण-कन्या! आज तुझे अपने किए का फल भोगना ही पड़ेगा।"

देवयानी इन वाग्बाणों से आहत स्तंभित रह गई। वह कुछ भी कारण नहीं समझ सकी। बार-बार अपने वस्त्रों को देखने लगी। समझ

गई कि उसने शर्मिष्ठा के वस्त्रों को भूल से पहन लिया है, किंतु स्वयं उसके वस्त्र भी इतने घटिया तो नहीं, जिन्हें पहनकर शर्मिष्ठा इतना अपमानित अनुभव कर रही है। उसने धैर्य धारण कर पुनः कहा–

"शर्मिष्ठा, एक सम्राट्-पुत्री के लिए इतना ओछा व्यवहार उचित नहीं। यह तो अहंकार और बुद्धिहीनता का परिचायक है। क्या मैं– आचार्य शुक्र की पुत्री–जिनके सामने सारा जगत झुकता है, तुम्हारे वस्त्रों की चोरी जैसा नीच अपराध करूंगी? मेरे पिता के संकेत मात्र से त्रैलोक्य का वैभव मेरे चरणों में अर्पित हो सकता है। क्या अनजाने में वस्त्र नहीं बदल जा सकते? बिना सोचे-समझे ही ऐसा आरोप तुम मुझ पर लगा रही हो। तुम्हारी ऐसी ही अनर्गल बातों से सारी असुर जाति संत्रस्त है और यदि इस व्यवहार को सुधारा नहीं गया तो एक दिन तुम्हीं इस असुर जाति के नाश का कारण बनोगी।"

शर्मिष्ठा ने जीवन में भला इतनी सारी बातें कब सुनी थीं! वह सम्राट् की पुत्री थी। उसे कोई इतना ज्ञान दे; चेतावनी दे। वह पुनः गरजी–

"भिक्षुणी! आज तेरा ज्ञान मैं निकालती हूं।" उसने अपनी सब दासियों को संकेत किया और स्वयं भी देवयानी पर सिंहिनी की तरह टूट पड़ी।

देवयानी के कोमल अंग विकृत हो गए। उनके ऊपर चोट के चिह्न पड़ गए और उनसे रक्त बहने लगा। शर्मिष्ठा और उसकी सखियों ने उसे इतना पीटा कि वह बेसुध होकर धरती पर गिर गई।

शर्मिष्ठा ने पुनः संकेत किया और उसकी तेज दासियों ने देवयानी को उठाकर उद्यान के बाहर एक अंधकूप में फेंक दिया।

देवयानी की दासियां शांत, स्तब्ध, भयभीत खड़ी सब कुछ देख रही थीं। सम्राट्-कन्या के सामने क्या बोलतीं? और फिर वे उसके क्रोध से परिचित थीं।

शर्मिष्ठा फिर गरजी–मेरी सहेलियो और दासियो! दुष्टा देवयानी को उचित दंड मिल गया है। जो शर्मिष्ठा से टकराने की कोशिश करेगा, उसको ऐसा ही फल भोगना पड़ेगा। तुम सबको मेरा यह आदेश है कि

यह घटना जो अभी घटी है, समझो कि यह कभी घटी ही नहीं। कुछ हुआ ही नहीं! यदि इसकी थोड़ी-सी भी सूचना बाहर किसी तक पहुंच गई तो मैं तुम सबकी खाल खिंचवा लूंगी।''

सबके चेहरे पर आतंक की काली छाया थी। मुंह लटक रहे थे। पांव कांप रहे थे।

शर्मिष्ठा की तेज-तर्रार वाणी से वातावरण पुनः गूंजने लगा—

और हां, देवयानी की दासियो! आज से तुम सब मेरी दासी हुईं। तुम्हें उसको भूल जाना होगा और मेरे प्रति अपनी निष्ठा रखनी होगी। यदि तुममें से किसी ने इसमें कभी किसी तरह का प्रमाद किया तो उसे कठोर दंड दिया जाएगा।''

देवयानी की दासियां भय से और अधिक कांपने लगीं। उन्हीं के सामने उनकी स्वामिनी की ऐसी दुर्गति कर दी और फिर उनका मुंह भी सी दिया! इतना ही नहीं, उनको उसकी सेवा से भी वंचित कर दिया गया। किंतु क्या वश चलता उनका? उद्यान के वृक्षों, लताओं, पक्षियों की तरह उन्होंने भी सिर झुकाकर आदेश पालन करने की मौन स्वीकृति दी

यह कौतुक-लीला छिपे हुए देवराज इंद्र और मरुत देव ने देखी और अपने षड्यंत्र की सफलता का आनंद मनाया। वे छद्मवेश में ही देवलोक लौट आए और भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं पर विचार करने लगे।

आश्रम में आचार्य शुक्र देवयानी की प्रतीक्षा कर रहे थे। सांझ हो गई। सूर्य अस्ताचल को जाने लगा। पक्षी भी अपने-अपने नीड़ में विश्राम करने के लिए लौट आए, किंतु देवयानी अभी तक नहीं आई। न ही उसकी कोई दासी दिखाई दे रही है आज। आचार्य किससे पूछें? कहां जाएं?

तभी एक वृद्धा दासी लड़खड़ाती और रुदन करती हुई आचार्य के पास आई। उसने समाचार दिया, ''गुरुदेव, अनिष्ट हो गया! असुरराज की कन्या दुष्ट शर्मिष्ठा ने देवयानी को मार-पीटकर आज उद्यान के निकट

वाले भयंकर अंधकूप में डाल दिया है। उसका बचना असंभव...''

वह जोर जोर से रोने लगी।

वृद्ध पिता विचलित हो गए। वे गिरते-गिरते बचे। लाडली पुत्री के मोह ने उनके सारे ज्ञान को नष्ट कर दिया। किसी तरह वृद्धा का सहारा लेकर वे घटनास्थल की ओर बढ़ चले।

उधर अंधकूप में बहुत देर के पश्चात देवयानी की मूर्च्छा टूटी। उसने अनुभव किया कि उसके अंग-प्रत्यंग में बहुत पीड़ा हो रही है। अंधकूप में अंधेरा गहराने लगा। किसी तरह की कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ रही। बस, सन्नाटे की सांय-सांय! उसे यह भी ज्ञात नहीं कि वह कहां है। वह जोर-जोर से क्रंदन करने लगी। उसकी कातर वाणी अंधेरे को चीरती हुई आसपास के अरण्य में खोने लगी।

नहुषपुत्र सम्राट् ययाति मृगया के लिए आज इसी अरण्य में आए थे। वे दिन-भर की भटकन से थककर जल की खोज में इधर ही आ रहे थे, तभी उनके कानों में देवयानी की कातर वाणी पड़ी। चकित-विस्मित सम्राट् ययाति अंधकूप की ओर दौड़े।

अंदर झांककर देखा तो देखते ही रह गए—अंधकार में ही एक ज्योति किरण-सी छिटक रही है और उसी में से कातरता-भरी आवाज लावे की तरह फूट रही है। उनका मन करुणा से भर गया। वे बोले, ''आप कौन हैं, देवी! घबराइए नहीं, मैं आ गया हूं।''

''मुझे बचाइए, महापुरुष! मैं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी हूं।''

''देवयानी?'' ययाति के मुंह से आश्चर्य के शब्द फूट पड़े। वे आचार्य शुक्र की पुत्री देवयानी के विषय में बहुत कुछ सुन चुके थे—उसका अनिंद्य सौंदर्य, चंचलता, पिता का दुलार और असुर-लोक में व्याप्त उसका प्रभाव।

ययाति तुरंत अंधकूप में कूद गए। और...

देवयानी सामने थी—यौवन से फटता हुआ शरीर। रूपराशि की चकाचौंध। वस्त्रों से क्षत-विक्षत अंग बाहर निकल पड़ने को आतुर। जगह-जगह चोट के निशान। सूजन। आंसू टपकाती रक्तिम आंखें जो

वाले भयंकर अंधकूप में डाल दिया है। उसका बचना असंभव...''

वह जोर जोर से रोने लगी।

वृद्ध पिता विचलित हो गए। वे गिरते-गिरते बचे। लाडली पुत्री के मोह ने उनके सारे ज्ञान को नष्ट कर दिया। किसी तरह वृद्धा का सहारा लेकर वे घटनास्थल की ओर बढ़ चले।

उधर अंधकूप में बहुत देर के पश्चात देवयानी की मूर्च्छा टूटी। उसने अनुभव किया कि उसके अंग-प्रत्यंग में बहुत पीड़ा हो रही है। अंधकूप में अंधेरा गहराने लगा। किसी तरह की कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ रही। बस, सन्नाटे की सांय-सांय! उसे यह भी ज्ञात नहीं कि वह कहां है। वह जोर-जोर से क्रंदन करने लगी। उसकी कातर वाणी अंधेरे को चीरती हुई आसपास के अरण्य में खोने लगी।

नहुषपुत्र सम्राट् ययाति मृगया के लिए आज इसी अरण्य में आए थे। वे दिन-भर की भटकन से थककर जल की खोज में इधर ही आ रहे थे, तभी उनके कानों में देवयानी की कातर वाणी पड़ी। चकित-विस्मित सम्राट् ययाति अंधकूप की ओर दौड़े।

अंदर झांककर देखा तो देखते ही रह गए—अंधकार में ही एक ज्योति किरण-सी छिटक रही है और उसी में से कातरता-भरी आवाज लावे की तरह फूट रही है। उनका मन करुणा से भर गया। वे बोले, ''आप कौन हैं, देवी! घबराइए नहीं, मैं आ गया हूं।''

''मुझे बचाइए, महापुरुष! मैं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी हूं।''

''देवयानी?'' ययाति के मुंह से आश्चर्य के शब्द फूट पड़े। वे आचार्य शुक्र की पुत्री देवयानी के विषय में बहुत कुछ सुन चुके थे—उसका अनिंद्य सौंदर्य, चंचलता, पिता का दुलार और असुर-लोक में व्याप्त उसका प्रभाव।

ययाति तुरंत अंधकूप में कूद गए। और...

देवयानी सामने थी—यौवन से फटता हुआ शरीर। रूपराशि की चकाचौंध। वस्त्रों से क्षत-विक्षत अंग बाहर निकल पड़ने को आतुर। जगह-जगह चोट के निशान। सूजन। आंसू टपकाती रक्तिम आंखें जो

सूखकर मोटी-मोटी हो गई थीं। बिखरी हुई केश-राशि। ययाति बेसुध-से हो अपलक उसे देखते ही रहे।

और देवयानी! वह भी अपने बस में कहां थी! उसने ययाति जैसा सदर्शन राजपुरुष आज से पहले कहां देखा था—सुदृढ़, बलिष्ठ शरीर, वृषभस्कंध, चौड़ा सीना, विशाल नेत्र, लंबी भुजाओं पर उभरी मांस-पेशियां और चेहरे पर सम्राट् की-सी आभिजात्य गंभीरता।

देवयानी धन्य हो गई।

विधाता ने यह सारा कांड इन महाबाहु से देवयानी का मिलन कराने के लिए ही तो नहीं रचा था।

वह कनखियों से सम्राट् ययाति की ओर देखती रही।

ययाति ने देवयानी को अंधकूप से बाहर निकाल दिया और स्वयं राजधर्म की उच्च भावभूमि में प्रकृतिस्थ हो खड़े रहे।

"इस विपदा में मेरे प्राण बचाने वाले महापुरुष की मैं कृतज्ञ हूं। क्या मैं आपका परिचय पा सकूंगी?" सिर झुकाए ही देवयानी ने पूछा।

"मैं नहुषपुत्र ययाति हूं—मानवों का राजा।"

"सम्राट् ययाति!" देवयानी सचमुच निहाल हो गई। वह ययाति की सभी लोकों में फैली कीर्ति के विषय में सुन चुकी थी।

"आइए, मैं आपको आचार्य शुक्र के आश्रम तक पहुंचा दूं। मेरा रथ प्रस्तुत है!"

"धन्यवाद। मैं स्वयं चली जाऊंगी।" देवयानी बोली।

ययाति अपने रथ पर सवार हो धूल उड़ाते हुए क्षण-भर में आंखों से ओझल हो गए।

देवयानी का मन भी उनके पीछे-पीछे भाग रहा था। वह बिना मोल बिक चुकी थी। उसने मन ही मन ययाति को अपना सर्वस्व समर्पित करने का संकल्प कर लिया...

तभी आचार्य शुक्र भी वृद्ध दासी का सहारा लिए वहां पहुंच गए। उन्होंने वात्याचक्र से झिंझोड़े हुए वृक्ष-सी खड़ी देवयानी को देखा। जीर्ण शीर्ण वस्त्र, मलिन चेहरा, उलझे-बिखरे बाल।

आचार्य का मन चीत्कार कर उठा। अपनी पुत्री की यह दशा इन्हीं

आखों से देखने की कल्पना भी उन्होंने नहीं की थी। उन्होंने भागकर देवयानी को अपने अंक में भर लिया।

देवयानी पिता की गोद में मुंह छिपाए सुबक-सुबककर रो रही थी उसकी आंखों से अश्रुओं की अविरल धारा बह रही थी। हिचकियां बंद होने का नाम नहीं लेती थीं।

तुम आश्रम में चलो, बेटी। तुम्हारी यह दशा करने वाले को म कठोर दंड दूंगा।'' आचार्य शुक्र ने पुत्री को पुचकारकर सांत्वना देने का प्रयत्न किया और उसे आश्रम की ओर ले जाने को उद्यत हुए।

नहीं, तात! मैं अब उस आश्रम में कभी नहीं जाऊंगी। वह तो भिक्षुओं का शरण-स्थल है—निरीह दीन-हीन ब्राह्मणों का निवास!''

देवयानी के शब्दों में दुःख से अधिक क्रोध था।

नहीं, बेटी। ऐसा न कहो। तुम्हें अच्छी तरह पता है कि तुम्हारा पिता भिक्षु नहीं है। वह निरीह, दीन-हीन ब्राह्मण नहीं है। उसके सामने सभी नाकों के सम्राट् नतमस्तक होते हैं और विशेष रूप से असुरराज वृषपर्वा तो अपनी सारी शक्ति और ऐश्वर्य के साथ तुम्हारे पिता की सेवा में लगा रहता है।''

देवयानी और अधिक उत्तेजित हो गई। बोली, ''इन्हीं असुरों का अन्न जल ग्रहण करके आपका पुरुषार्थ भी श्रीविहीन होता जा रहा है। शर्मिष्ठा के शब्दों के अनुसार, उनके द्वारा दान-दक्षिणा में दिए गए अन्न वस्त्र का ही हम उपयोग करते हैं। हम उन्हीं के आश्रित हैं। इसीलिए मुझे आज इतना अपमान सहन करना पड़ा है, तात!''

आचार्य के पुरुषार्थ पर सचमुच गहरी चोट लगी। वे लड़खड़ा गए उन्हें शर्मिष्ठा की बातों पर क्रोध भी आया। किंतु अपने-आपको संभालकर देवयानी को सांत्वना देते हुए वह बोले—

किसी छोटे व्यक्ति के अनर्गल प्रलाप से महान् व्यक्तियों का अपमान नहीं होता, बेटी। चांद पर थूका हुआ अपने ही ऊपर आकर गिरता है। बड़ा वही है जो दूसरों की कटु बातों को भी सहन कर लेता है। शर्मिष्ठा तुम्हारी सहेली है। वह वय, विद्या और बुद्धि में भी तुमसे छोटी है. फिर तुम उसके गुरु की कन्या हो। तुम्हारे ऊपर उसकी अपेक्षा

अधिक दायित्व है। तुम उसे क्षमा कर दो, बेटा! और घर वापस चलो।''

देवयानी का धैर्य टूट गया। वह और अधिक नहीं सुन सकी। क्रोधावेश में बोली, ''पिताजी, आपको अभी असुरों के लिए बहुत कुछ करना है। आपका जीवन तो उन्हीं के हित के लिए बना है। इसके लिए आपको चाहे कुछ भी मूल्य चुकाना पड़े...इसलिए आप उनके द्वारा भेंट किए गए अपने आश्रम में सहर्ष लौट जाएं। मैं तो अब इन असुरों के मध्य एक दिन भी नहीं रह सकती।''

देवयानी पुनः फूट-फूटकर रोने लगी और मुड़कर चल पड़ी।

आचार्य शुक्र द्रवित हो गए—वे अपनी प्राणप्रिया पुत्री के लिए कुछ भी कर सकते हैं। कुछ भी त्याग सकते हैं। बोले, ''बेटी! मेरा पहला धर्म तुम्हारा हित करना है, बाद में असुरों का। तुम जहां चलना चाहो, चलो, पुत्री। मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं।''

कहकर वे देवयानी के पीछे-पीछे राजधानी की विपरीत दिशा में चल पड़े।

उधर असुरराज वृषपर्वा को गुप्तचरों द्वारा सूचना मिली कि शुक्राचार्य राजधानी छोड़कर जा रहे हैं। उनको यह भी बताया गया कि राजपुत्री शर्मिष्ठा ने आज देवयानी की घोर दुर्गति की है और उसी के अपमान के कारण क्षुब्ध आचार्य और उनकी पुत्री देवयानी असुरलोक त्यागकर कहीं अन्यत्र जा रहे हैं।

सुनते ही असुरराज के पैरों के नीचे से धरती खिसकती प्रतीत हुई। वे तुरंत अपने सब अमात्यों को साथ लेकर आचार्य शुक्र के पास आए और उनके चरणों में गिर गए। विनम्र वाणी में बोले, ''गुरुदेव! इस असुरलोक को अनाथ छोड़कर कहां जा रहे हैं? यदि मुझसे कोई बहुत बड़ी भूल हो गई है तो मैं अभी अपना पद त्याग देता हूं। असुरों का सर्वस्व आप पर न्यौछावर है। हम तो आपके चरणों की धूलि हैं, गुरुदेव। किंतु एक बार कहें तो सही, हम असुरों से इतनी नाराजगी क्यों है?''

आचार्य शुक्र मौन ही रहे।

उन्होंने देखा—सारे अमात्य एवं राज-परिवार के लोग करबद्ध होकर उनकी ओर याचना-भरी दृष्टि से निहार रहे हैं।

देवयानी भी यह सब देख रही थी, किंतु उसका क्रोध विगलित नहीं हुआ। वह बीच में ही बोल पड़ी, ''असुरराज! आचार्य शुक्र तो गुरुदेव नहीं एक निरीह दीन-हीन ब्राह्मण हैं, एक भिक्षुक हैं—शर्मिष्ठा के पिता के टुकड़ों पर पलने वाले जीव। किंतु आज से उन्होंने उन टुकड़ों पर पलना बंद कर दिया है। हमें क्षमा कीजिए, असुरराज। अब हम आपकी राजधानी में नहीं लौट सकते।''

वृषपर्वा देवयानी की ओर हाथ जोड़कर बोला, ''पुत्री! सारे असुरलोक की संपत्ति, ऐश्वर्य आचार्य के चरणों की धूल है और सारे असुर उनके चरणों के सेवक हैं। फिर भला वे भिक्षुक या निरीह ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं? शर्मिष्ठा तुम्हारी छोटी बहन है, पुत्री! उससे जो त्रुटि हुई है उसका दंड देने का अधिकार मैं तुम्हें ही सौंपता हूं, बेटी। तुम्हारा क्रोध जैसे भी शांत हो, वैसा ही उपाय करो। शर्मिष्ठा को वही दंड दो, किंतु...हमें निराश्रित छोड़कर मत जाओ।''

आचार्य शांत ही रहे।

देवयानी फिर भी कुछ नहीं बोली।

कुछ देर चुप्पी रही।

वृषपर्वा पुनः बोले, ''बोलो, बेटी! तुम जो भी दंड चाहो, शर्मिष्ठा को देकर अपना बदला चुका लो, किंतु गुरुदेव को हमसे मत छीनो।''

देवयानी ने देखा—असुरराज सचमुच दीन याचक बना उसके पिता के सामने खड़ा है। उसे अपने पिता का प्रभुत्व आज प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिला। उसका क्रोध शांत हो गया और उसे शर्मिष्ठा से अपने अपमान का बदला लेने का यह सबसे उपयुक्त अवसर जान पड़ा।

वह कठोर वाणी में बोली, ''असुरराज! मुझे वचन दें कि शर्मिष्ठा के अपराध के लिए जिस दंड का प्रस्ताव मैं करूंगी उसे आप स्वीकार कर लेंगे।''

''मैं वचन देता हूं, पुत्री। तुम्हारा प्रस्ताव शब्दशः स्वीकार करूंगा और उसका अक्षरशः पालन होगा।''

''तो सुनो, सम्राट्! शर्मिष्ठा अपनी सहस्रों दासियों समेत जीवन-भर मेरी दासी का कार्य करेगी। जहां पर मेरा विवाह होगा, शर्मिष्ठा को भी

दासियों सहित मेरे साथ वहीं जाना होगा और आजीवन मेरी सेवा करनी होगी।''

असुर-सम्राट् वृषपर्वा के हृदय में जैसे बिजलियां उतर गई हों! मानो उन पर वज्र का प्रहार हुआ हो! अपनी पुत्री की भावी दुर्दशा की कल्पना कर वे कांप गए। वे लड़खड़ाकर आचार्य के चरणों में गिर गए।

आचार्य मौन रहे।

वातावरण में कठोर सन्नाटा भर गया। सबके मुंह लटक गए।

देवयानी फिर गरजी, ''इसमें आचार्य क्या करेंगे, सम्राट्? आपने वचन दिया है। यदि इसका पालन कठिन लगता है तो हमें असुरलोक छोड़कर कहीं अन्यत्र जाने दीजिए!''

वृषपर्वा सिसकने लगे। सिसकते हुए ही बोले, ''गुरुदेव, शर्मिष्ठा वही करेगी जो देवयानी चाहती है। आप कृपया राजधानी लौट चलिए।''

आचार्य मौन ही रहे।

देवयानी फिर बोली, ''असुरराज, प्रतिज्ञा आपने की है, किंतु निभानी तो शर्मिष्ठा को है। इसलिए वह स्वयं अपनी दासियों सहित यहीं आकर इस आदेश का पालन करने की शपथ ले।''

''ऐसा ही होगा, पुत्री! असुरों के कल्याण के लिए उसे यह बलिदान करना ही होगा।''

असुरराज की वाणी में दर्द था। असुरों के हित की टीस थी।

शर्मिष्ठा और उसकी दासियों को वहीं पर बुलाया गया। असुरों की कल्याण-भावना को दृष्टिगत रखते हुए और एक सम्राट् की पुत्री का दायित्व समझते हुए शर्मिष्ठा ने जीवन-भर देवयानी की दासी बनकर उसकी सेवा करने की प्रतिज्ञा की और अपनी सहस्त्रों दासियों समेत वहीं से आचार्य शुक्र के आश्रम में चली गई।

# वृद्ध ययाति का यौवन

मानवलोक के सम्राट् ययाति के भव्य राज-महल का विशाल अंतःपुर। संध्या समय रानी देवयानी के निजी कक्ष में कई दासियां महारानी की शय्या को सजा-संवार रही हैं। बहुमूल्य हीरे-पन्नों से जड़ित, स्वर्ण-मंडित चांदी के पलंग पर कलात्मक मखमली गलीचे। मलमल की झालरदार चादरें। और उन पर बिछा रही हैं चमेली और गुलाब के साथ अनेक रंग बिरंगे फूल। कुछ दासियां इत्रादि द्रव्य वस्त्रों पर और कक्ष में इधर-उधर छिड़क रही हैं।

तभी एक कर्कश स्वर गूंजा—

शर्मिष्ठा कहां है?'' रानी देवयानी बोल रही थी।

सभी दासियां कांप गईं। हाथ रुक गए। सांसें ठहर गईं। सिर नीचे को झुक गए। एक दासी ने साहस कर कहा, ''आपकी मालिश के लिए उबटन तैयार कर रही हैं, स्वामिनी। वे अभी आती ही होंगी।''

वे आती होंगी?'' देवयानी जल उठी। क्रोध से चेहरा तमतमा गया दासी के ऊपर गरज उठी, ''तुम्हें कितनी बार कहा है कि उसको इस तरह संबोधित मत किया करो। वह भी तुम्हारी तरह मेरी एक दासी है यश वह तुम्हारी स्वामिनी नहीं, सहकर्मी है। यदि फिर कभी उसे इतना मान दिया तो खाल खिंचवा लूंगी तुम्हारी।''

......''

वातावरण में सन्नाटा तैर गया।

और कितनी बार कहा है कि मेरी शय्या तैयार करने का कार्य केवल शर्मिष्ठा का है। जाओ तुम! उसी को भेज दो। वही आकर अपना काम करेगी।''

किंतु महारानी...''

कोई किंतु-परंतु नहीं! शायद तुम्हें महल की मर्यादाओं का भान

भी उतना ही अधिकार है जितना देवयानी का। वह मेरे प्राणेश्वर हैं। मेरे हृदय-सम्राट् हैं। उनकी परवशता ऐसी नहीं जो तोड़ी न जा सके। मैं अब अपने जीवन को किसी और के यश के लिए और अधिक समिधा नहीं न ने दे सकती। मुझे देवयानी से प्रतिशोध लेना होगा। अपना अधिकार छीनना होगा।

उसकी शरीर-यष्टि प्रतिहिंसा से कांप उठी। होंठ फड़क उठे। हृदय प्रज्वलित हो गया। आंखों में लाल डोरे उभर आए।

शर्मिष्ठा ने तुरंत माल्य-रचना कर देवयानी की शय्या सुसज्जित की और इससे पहले कि महाराज देवयानी के महल में प्रवेश करें, स्वयं शर्मिष्ठा अपना शृंगार करके, प्रेम से उद्वेलित नायिका का वेश धारण किए, बिजली की तरंग के समान सम्राट् के निजी कक्ष में जा धमकी।

सम्राट् उसकी उपस्थिति से विचलित हो गए। किंतु उसके कुंवारे यौवन ने उनको चुंबक की तरह आकृष्ट कर लिया। शर्मिष्ठा की आंखों से बहती अश्रुओं की अविरल धारा ने सम्राट् की सुप्त करुणा को जागृत कर दिया। उनके मानस में बिजलियां कौंधने लगीं—कभी अपने दिए वचन से, कभी शर्मिष्ठा के पिघलते यौवन से और कभी एक असहाय नारी के शोषण के चीत्कार से आंदोलित हो उठे। मस्तिष्क में विचारों का झंझावात उठा। वात्याचक्र की धूल उड़ी। उनका मन पीपल के पत्ते की तरह कांपने लगा। किंतु अंततः शर्मिष्ठा की अश्रु-वर्षा ने धूल को धो दिया। उसके आंचल की शीतल छाया ने सारे झंझावातों से बचाकर सम्राट् को अपने में समेट लिया। और दोनों ने एक-दूसरे के अगाध प्रेम-सागर में जी भरकर केलि-क्रीड़ा की।

और फिर तो यह क्रम चलता ही रहा। अत्यधिक गोपनीय ढंग से।

और एक दिन!

शर्मिष्ठा ने एक पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा द्रुह्यु।

यह समाचार देवयानी को भी मिला। वह ईर्ष्या से जल उठी। उसी के अंतःपुर में ऐसा घोर पाप! एक दासी का इतना दुःसाहस! वह सिंहनी सी स्वयं दासियों के आवास में शर्मिष्ठा के कक्ष पर गई और उसके ऊपर चढ़-सी गई, "पापिनी शर्मिष्ठा! यह पाप करके तूने

कि उसे सहसा शर्मिष्ठा के पुत्रों की याद हो आई। सोचने लगी कि शर्मिष्ठा के तीनों पुत्र अब तो काफी बड़े हो गए होंगे। उसने एक बार भी नहीं देखा उन्हें। क्यों न एक बार देख लिया जाए?

अब उसके मन में पहले जैसा द्वेषभाव भी नहीं रह गया था। वह सोचने लगी—आखिर शर्मिष्ठा उसकी बाल-सहचरी है। उसको एक दिन की भूल का कितना दंड दे चुकी है वह उसे!

और शर्मिष्ठा से मिलने देवयानी अकेली ही दासी-भवन की ओर चल दी।

वह शर्मिष्ठा के घर के सामने पहुंची ही थी कि कानों में महाराज ययाति की मुक्त हँसी सुनाई पड़ी। उसका हृदय धड़क उठा। यह क्या? सम्राट दासी के आवास में?

उसने शीघ्रता से पैर बढ़ाकर ज्योंही ड्योढ़ी के अंदर प्रवेश किया, वहां का दृश्य देखकर दंग रह गई। पलंग पर स्वयं ययाति विराजमान हैं। शर्मिष्ठा उन्हें अपने हाथों से भोजन करा रही है और उसके तीनों तेजस्वी पुत्र महाराज के निकट बैठे उन्हीं की थाली में भोजन कर रहे हैं। शर्मिष्ठा हंस हंसकर उन्हें भोज्य सामग्री दे रही है। सम्राट् के प्रेमसागर में डूबकर शर्मिष्ठा का गदराया रूप कितना निखर गया है! महाराज उसके प्रेमपाश में बंधे बार-बार उसे निहारे जा रहे हैं। उनको इतना प्रसन्न तो देवयानी ने कभी उनके अपने कक्ष में भी नहीं देखा! कितना उल्लास! प्रेम का कैसा बहता निर्झर!

देवयानी ईर्ष्या से जलकर राख हो गई। उसका हृदय धू-धूकर भभक उठा। आंखों से द्वेष की चिनगरियां फूटने लगीं। नथुने फड़क उठे। रोम रोम कांप उठा। वह हांफती हुई सिंहिनी-सी जाकर उनके मध्य खड़ी हो गई।

सम्राट् की दृष्टि उस पर पड़ी तो वह सूख-से गए! जैसे प्रचंड झोंके से कमल की कोमल पंखुड़ियां झुलस गई हों। उनका हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। उनकी दृष्टि देवयानी के जलते चेहरे पर पड़ती और टिक न पाने के कारण तुरंत फिसल जाती। वे अवाक् रह गए।

शर्मिष्ठा अविचलित ही रही। उसके तीनों पुत्र इस नव आगंतुका को विस्मय से देखने लगे, जिसके आने से उनके पराक्रमी पिता की

मुखमद्रा भय से विकृत हो गई!

शर्मिष्ठा की ओर उन्मुख होकर देवयानी गरजी, "पापिनी शर्मिष्ठा। तूने मेरे साथ धोखा किया है। सच बता ये पुत्र किसके हैं?"

शर्मिष्ठा मौन रही।

उनके तीनों पुत्र भयभीत-से होकर महाराज के पीछे-पीछे कांधों से चिपक गए। उनका तेजोमय ललाट सम्राट् के चौड़े ललाट से हूबहू मिलता था। उनके हँसते-से विशाल काले नेत्र, उभरी नासिका, कुंदकली-से हाठ-एक-एक अंग सम्राट् के नवयौवन का स्मरण करा रहे थे! देवयानी का रहा-सहा संदेह भी जाता रहा।

वह क्रूर बाज-सी सम्राट् पर झपटी, "अधर्मी! कामी! नीच! तुमने मेरे साथ छल किया है। मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रचा है। मेरे पिता को दिए गए वचन को भंग किया है। तुमने मुझसे ज्यादा शर्मिष्ठा से प्रेम किया है तुम दंभी हो, पाखंडी हो, पापात्मा हो! मैं अब तुम्हारे साथ एक क्षण भी नहीं रह सकती। संभालो अपने पुत्रों को। मैं जा रही हूं।"

अगर क्रोध की चिनगारी-सी देवयानी पैदल ही अपने पिता के आश्रम की ओर बढ़ चली।

सम्राट् ययाति पीछे-पीछे भागे। उसे रोकने का प्रयत्न किया। क्षमा मांगी याचना की। अनुनय-विनय किया, किंतु देवयानी प्रचंड नदी-सी बहती ही चली गई और तूफान की तरह पिता शुक्राचार्य के आश्रम में जा धमकी।

विनाश की आशंका से ग्रस्त ययाति भी उसके पीछे-पीछे ही आश्रम में पहुंच गए।

देवयानी ने अपने पिता से सारी घटना कह सुनाई। वह आंखों से अविरल अश्रुधारा बहा रही थी, और हिचकियां ले-लेकर बार-बार अपने पिता से लिपट-लिपट जाती थी। आचार्य अपनी लाडली पुत्री के दुःख से कातर हो गए। ज्यों-ज्यों वह रोती जाती थी, उनका क्रोध बढ़ता जाता था थोड़ी देर में वे नाग के समान फुफकारने लगे। ममता में उनका सारा तप ज्ञान जाता रहा। बूढ़ी शिराएं तन गईं। आंखों से खून बरसने लगा...

तभी भय-कातर ययाति अपनी ओर आते दिखाई दे गए। जैसे

तः उसे सहसा शर्मिष्ठा के पुत्रों की याद हो आई! सोचने लगी कि शर्मिष्ठा के तीनों पुत्र अब तो काफी बड़े हो गए होंगे। उसने एक बार भी नहीं देखा उन्हें। क्यों न एक बार देख लिया जाए?

अब उसके मन में पहले जैसा द्वेषभाव भी नहीं रह गया था। वह सोचने लगी— आखिर शर्मिष्ठा उसकी बाल-सहचरी है। उसकी एक दिन की भूल का कितना दंड दे चुकी है वह उसे!

और शर्मिष्ठा से मिलने देवयानी अकेली ही दासी-भवन की ओर चल दी।

वह शर्मिष्ठा के घर के सामने पहुंची ही थी कि कानों में महाराज ययाति की मुक्त हँसी सुनाई पड़ी। उसका हृदय धड़क उठा। यह क्या? सम्राट दासी के आवास में?

उसने शीघ्रता से पैर बढ़ाकर ज्योंही ड्योढ़ी के अंदर प्रवेश किया, वहां का दृश्य देखकर दंग रह गई। पलंग पर स्वयं ययाति विराजमान हैं। शर्मिष्ठा उन्हें अपने हाथों से भोजन करा रही है और उसके तीनों तेजस्वी पुत्र महाराज के निकट बैठे उन्हीं की थाली में भोजन कर रहे हैं। शर्मिष्ठा हँस हसकर उन्हें भोज्य सामग्री दे रही है। सम्राट् के प्रेमसागर में डूबकर शर्मिष्ठा का गदराया रूप कितना निखर गया है! महाराज उसके प्रेमपाश में बंध बार-बार उसे निहारे जा रहे हैं। उनको इतना प्रसन्न तो देवयानी ने कभी उनके अपने कक्ष में भी नहीं देखा! कितना उल्लास! प्रेम का कैसा बहता निर्झर!

देवयानी ईर्ष्या से जलकर राख हो गई। उसका हृदय धू-धूकर भभक उठा। आंखों से द्वेष की चिनगारियां फूटने लगीं। नथुने फड़क उठे। रोम रोम कांप उठा। वह हांफती हुई सिंहिनी-सी जाकर उनके मध्य खड़ी हो गई

सम्राट् की दृष्टि उस पर पड़ी तो वह सूख-से गए! जैसे प्रचंड झोंके से कमल की कोमल पंखुड़ियां झुलस गई हों। उनका हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। उनकी दृष्टि देवयानी के जलते चेहरे पर पड़ती और टिक न पाने के कारण तुरंत फिसल जाती। वे अवाक् रह गए।

शर्मिष्ठा अविचलित ही रही। उसके तीनों पुत्र इस नव आगंतुका को विस्मय से देखने लगे, जिसके आने से उनके पराक्रमी पिता की

मुखमुद्रा भय से विकृत हो गई!

शर्मिष्ठा की ओर उन्मुख होकर देवयानी गरजी, "पापिनी शर्मिष्ठा! तूने मेरे साथ धोखा किया है। सच बता ये पुत्र किसके हैं?"

शर्मिष्ठा मौन रही।

उसके तीनों पुत्र भयभीत-से होकर महाराज के पीठ-पीछे कांधों से चिपक गए। उनका तेजोमय ललाट सम्राट् के चौड़े ललाट से हूबहू मिलता था। उनके हँसते-से विशाल काले नेत्र, उभरी नासिका, कुंदकली-से होंठ—एक-एक अंग सम्राट् के नवयौवन का स्मरण करा रहे थे! देवयानी का रहा-सहा संदेह भी जाता रहा।

वह क्रूर बाज-सी सम्राट् पर झपटी, "अधर्मी! कामी! नीच! तुमने मेरे साथ छल किया है। मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रचा है। मेरे पिता को दिए गए वचन को भंग किया है। तुमने मुझसे ज्यादा शर्मिष्ठा से प्रेम किया है। तुम दंभी हो, पाखंडी हो, पापात्मा हो! मैं अब तुम्हारे साथ एक क्षण भी नहीं रह सकती। संभालो अपने पुत्रों को। मैं जा रही हूं।"

और क्रोध की चिनगारी-सी देवयानी पैदल ही अपने पिता के आश्रम की ओर बढ़ चली।

सम्राट् ययाति पीछे-पीछे भागे। उसे रोकने का प्रयत्न किया। क्षमा मांगी, याचना की। अनुनय-विनय किया, किंतु देवयानी प्रचंड नदी-सी बढ़ती ही चली गई और तूफान की तरह पिता शुक्राचार्य के आश्रम में जा धमकी।

विनाश की आशंका से ग्रस्त ययाति भी उसके पीछे-पीछे ही आश्रम में पहुंच गए।

देवयानी ने अपने पिता से सारी घटना कह सुनाई। वह आंखों से अविरल अश्रुधारा बहा रही थी, और हिचकियां ले-लेकर बार-बार अपने पिता से लिपट-लिपट जाती थी। आचार्य अपनी लाडली पुत्री के दुःख से कातर हो गए। ज्यों-ज्यों वह रोती जाती थी, उनका क्रोध बढ़ता जाता था। थोड़ी देर में वे नाग के समान फुफकारने लगे। ममता में उनका सारा तप झरता जाता रहा! बूढ़ी शिराएं तन गईं। आंखों से खून बरसने लगा...

तभी भय-कातर ययाति अपनी ओर आते दिखाई दे गए। जैसे

क्रोधाग्नि में घी पड़ गया। उनका हाथ शून्य की ओर उठ गया। वे भभक उठे—

"अधम ययाति! तूने मेरी पुत्री के साथ भारी छल किया है। कामी पुरुष, तू भरी सभा में दिए गए अपने वचन का भी पालन नहीं कर सका। जाओ, मैं तुम्हें शाप देता हूं—तुम्हारी काम-वासना कभी शांत नहीं होगी। तुम अभी से वृद्धावस्था के ग्रास बन जाओगे!"

आचार्य की झुलसती हुई वाणी से सारा आश्रम दग्ध हो गया। पुष्प कुम्हला गए। पक्षी हाहाकार कर आकाश में भागने लगे। भंवरे भनभनाते हुए इधर-उधर उड़ चले। और...

ययाति का सुंदर, बलिष्ठ शरीर देखते ही देखते वृद्ध काया में परिवर्तित हो गया। श्याम केश श्वेत हो गए। चेहरे पर झुर्रियां उभर आईं। मुख के दांत हिल गए। पैर कांपने लगे। वाणी की शक्ति नष्ट हो गई। ययाति लड़खड़ाकर गिर गए।

देवयानी ने आश्चर्य से देखा—उसके पति की बलिष्ठ काया क्षण-भर में परिवर्तित होकर उनके वृद्ध पिता की भांति ही जर्जर हो गई। अपने प्राणप्रिय का ऐसा रूप देखकर वह घबरा गई। इस परिणाम की तो उसने कल्पना भी नहीं की थी। उसका हृदय चीत्कार कर उठा। उसने दोनों हाथों से अपनी आंखें छुपा लीं।

ययाति की चेतना जब कुछ लौटी तो उन्होंने लड़खड़ाते हुए चलकर आचार्य के चरण पकड़ लिए और करुण वाणी में बोले, "पूज्य! मेरा पक्ष सुने बिना ही आपने मुझे ऐसा कठोर दंड दे दिया। मैंने जो कुछ भी किया है, वह शास्त्र और ऋषि-मुनियों द्वारा मर्यादित और स्वीकृत है। मैंने कोई पाप नहीं किया है। अब मेरे जीवन का क्या होगा, तात!"

ऐसी कातर वाणी सुनकर देवयानी के मन में ययाति के प्रति सहानुभूति जाग उठी।

किंतु आचार्य अविचलित ही रहे। बोले—

"ययाति! अपने प्रदत्त वचन का पालन न करना सबसे बड़ा पाप है। इसे कोई भी शास्त्र या महापुरुष मर्यादित नहीं कह सकता। तुमने वचन दिया था कि तुम शर्मिष्ठा से संभाषण भी नहीं करोगे, किंतु तुमने तो उसको पत्नी बनाकर रखा है और तुमने काम के वशीभूत होकर घोर

अधर्म किया है। इसका दंड तुम्हें भुगतना ही होगा।

नहीं, तात! मैंने काम के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि शास्त्रों के गूढ़ सिद्धांतों और शर्मिष्ठा की करुण स्थिति के वशीभूत होकर ही यह कर्म किया है। और मैं अभी सुख-भोगों का आकांक्षी हूं। देवयानी मेरी प्राणप्रिया है। मेरा यौवन वापस लौटा दीजिए, तात!"

आचार्य मौन रहे।

किंतु ययाति की दीन वाणी ने उनके क्रोध को विगलित कर दिया।

देवयानी तो ययाति के दुःख से आहत होकर अत्यधिक रोने लगी। वह कभी ययाति की जर्जर, कंपित देह को देखती और कभी आचार्य की ओर आशा-भरी, याचक की-सी दृष्टि डालती।

ययाति पुनः बोले, "मैंने अपने अपराध के लिए कई बार देवयानी से क्षमा मांग ली है। मैं आपसे भी क्षमा मांगता हूं—और देवयानी से भी पुनः क्षमा-याचना करता हूं। मुझ पर दया करें, तात।"

एक धीर, धुरंधर सम्राट् की ऐसी हृदय-विदारक कातर वाणी सुनकर सारी प्रकृति करुणा में डूब गई। लगा, जैसे पुष्प रो रहे हैं, पक्षी कराह रहे हैं और आकाश कांप रहा है।

देवयानी तो पछाड़ खाकर गिर गई।

शुक्राचार्य भी द्रवित हो गए। गंभीर वाणी में बोले, "वत्स! मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता। अब मैं उसे लौटाने में विवश हूं। ययाति! तुम्हें इस वृद्धावस्था को तो ढोना ही होगा। फिर भी मैं एक सुविधा दे सकता हूं। यदि तुम चाहो तो किसी नवयुवक से एक सीमित अवधि के लिए अपनी वृद्धावस्था परिवर्तित कर सकते हो।"

ययाति ने हाथ जोड़ दिए और कहा, "मेरे लिए यही अवलंबन बहुत है पूज्य तात! इस घोर विपत्ति में यही आपका आशीर्वाद बनेगा।"

आचार्य ने अनेक प्रकार से सांत्वना देकर ययाति और देवयानी को विदा किया।

ययाति की दुर्दशा की कहानी सर्वत्र फैल गई। सब उनके मंगल की कामना करने लगे। चारों ओर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की जाने लगी। सबसे अधिक दुःख स्वयं देवयानी को था। वह ययाति को पुनः

युग देखने के लिए लालायित हो उठी।

उसने अपने दोनों पुत्रों यदु और तुर्वसु से प्रार्थना की कि वे अपने पिता को एक सीमित अवधि के लिए अपनी युवावस्था दे दें।

किंतु उन दोनों ने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। अपनी प्रिय युवावस्था एक क्षण के लिए भी किसी और को देने से उन्होंने स्पष्ट इनकार कर दिया।

देवयानी की मंत्रणा से ययाति ने शर्मिष्ठा के तीनों पुत्रों, द्रुह्यु, अनु और पुरु के सामने भी इस कठिन प्रस्ताव को रखा। स्वयं शर्मिष्ठा ने भी अपने पुत्रों से प्रार्थना की। दोनों ज्येष्ठ पुत्रों द्रुह्यु और अनु ने तो उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया, किंतु सबसे छोटे पुत्र पुरु ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसने कहा, ''यदि पूज्य तात चाहें तो मैं अपना सारा जीवन भी उन्हें अर्पित करने को तैयार हूं। यह जीवन उन्हीं का दिया हुआ है और उन्हीं को सौंपने में इसकी सार्थकता है।''

सम्राट् ययाति, देवयानी और शर्मिष्ठा पुरु की पितृभक्ति से प्रसन्न हो गए। ययाति ने आचार्य शुक्र का स्मरण कर पुरु के यौवन से अपनी जरावस्था बदलने की प्रार्थना की।

क्षण-भर में पुरु का शरीर जर्जर होकर कांपने लगा। झुर्रियां उभर आईं सारे केश श्वेत हो गए। आंखें अंदर को धंस गईं...

और उधर ययाति पुनः युवा बनकर सौंदर्य से दमकने लगे।

देवयानी और शर्मिष्ठा एक-दूसरे के गले लग गईं। उनका सारा द्वेष और विषाद आंसुओं से धुल गया था।

सम्राट् ने पुत्र पुरु को हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया—''वत्स! तुमने पुत्रधर्म को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया है। तुम्हारी कीर्ति लोकों को दीर्घकाल तक सुगंधित करती रहेगी। तुम यशस्वी सम्राट् बनोगे।''

सम्राट् ययाति ने युवावस्था पाकर दीर्घ काल तक ऐश्वर्य-भोगों का आनंद लिया।

फिर कुछ समय बीतने पर उन्होंने पुरु से पुनः अपनी जरावस्था ले ली। उन्होंने पुरु को ही अपना राज्य सौंप दिया और ईश्वर की आराधना के लिए वनगमन किया।

# दुर्वासा और अप्सरा

नंदन कानन।

देवराज इंद्र का अनुपम उपवन—

जहां पूरे वर्ष मधुऋतु रहती है।

चहुं ओर उन्मादिनी प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ है। कुसुमित लता कुंजों एवं सरोवरों की सुरभित जल-लहरियों पर मलयानिल अठखेलियां कर रहा है। पक्षियों के मनोहर कलरव से दिशाएं गूंज रही हैं। भ्रमरों की पङ्क्तियां आम्र-रस से छककर मदमाती इधर-उधर गुंजार रही हैं। अशोक और कदंब वृक्षों से नूतन पल्लवित-पुष्पित वल्लरियां लिपटी हुई हैं। चंदन और अगरु वृक्षों के हरित किसलयों के स्तवक झड़कर यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। सारा सुगंधित वातावरण मन में उल्लास-सा उत्पन्न कर रहा है।

संध्या समय। कानन के पृष्ठभाग में देवराज अन्य प्रमुख देवों के साथ विराजमान हैं। प्रकृति की छटा देखकर उनका हृदय आज कुछ अधिक ही उल्लसित है। उन्होंने मनोरंजनार्थ सभी अप्सराओं को वहां बुलाने की आज्ञा दी।

तभी समाचार मिला कि देवर्षि नारद देवराज से मिलने नंदन कानन में आए हुए हैं। इंद्र ने उन्हें तुरंत बुलवा भेजा। उनका यथोचित सत्कार किया। अर्घ्य, पादयादि से पूजाकर सुंदर, स्वादिष्ट फल-मूल इत्यादि भेंट किए और अपने पार्श्वभाग में ही एक उच्च आसन पर बिठाया।

देवराज देवर्षि से उनके परिभ्रमण-संबंधी चर्चा करने लगे। मर्त्यलोक, पाताललोक का हालचाल पूछा। फिर वे उनसे अन्यान्य विषयों पर हास-परिहास में निमग्न थे कि उनकी आंखों के सामने बिजली-सी कौंधने लगी वार्ता बंद हो गई और...

दृश्य देखने के लिए लालायित हो उठी।

उसने अपने दोनों पुत्रों यदु और तुर्वसु से प्रार्थना की कि वे अपने पिता को एक सीमित अवधि के लिए अपनी युवावस्था दे दें।

किंतु उन दोनों ने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। अपनी प्रिय युवावस्था एक क्षण के लिए भी किसी और को देने से उन्होंने स्पष्ट इनकार कर दिया।

देवयानी की मंत्रणा से ययाति ने शर्मिष्ठा के तीनों पुत्रों, द्रुह्यु, अनु और पुरु के सामने भी इस कठिन प्रस्ताव को रखा। स्वयं शर्मिष्ठा ने भी अपने पुत्रों से प्रार्थना की। दोनों ज्येष्ठ पुत्रों द्रुह्यु और अनु ने तो उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया, किंतु सबसे छोटे पुत्र पुरु ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसने कहा, ''यदि पूज्य तात चाहें तो मैं अपना सारा जीवन भी उन्हें अर्पित करने को तैयार हूं। यह जीवन उन्हीं का दिया हुआ है और उन्हीं को सौंपने में इसकी सार्थकता है।''

सम्राट् ययाति, देवयानी और शर्मिष्ठा पुरु की पितृभक्ति से प्रसन्न हो गए। ययाति ने आचार्य शुक्र का स्मरण कर पुरु के यौवन से अपनी जरावस्था बदलने की प्रार्थना की।

क्षण-भर में पुरु का शरीर जर्जर होकर कांपने लगा। झुर्रियां उभर आईं सारे केश श्वेत हो गए। आंखें अंदर को धंस गईं...

और उधर ययाति पुनः युवा बनकर सौंदर्य से दमकने लगे।

देवयानी और शर्मिष्ठा एक-दूसरे के गले लग गईं। उनका सारा द्वेष और विषाद आंसुओं से धुल गया था।

सम्राट् ने पुत्र पुरु को हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया—''वत्स! तुमने पुत्रधर्म को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया है। तुम्हारी कीर्ति लोकों को दीर्घकाल तक सुगंधित करती रहेगी। तुम यशस्वी सम्राट् बनोगे।''

सम्राट् ययाति ने युवावस्था पाकर दीर्घ काल तक ऐश्वर्य-भोगों का पान किया।

फिर कुछ समय बीतने पर उन्होंने पुरु से पुनः अपनी जरावस्था ले ली। उन्होंने पुरु को ही अपना राज्य सौंप दिया और ईश्वर की आराधना के लिए वनगमन किया।

# दुर्वासा और अप्सरा

नंदन कानन।

देवराज इंद्र का अनुपम उपवन—

जहां पूरे वर्ष मधुऋतु रहती है।

चहुं ओर उन्मादिनी प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ है। कुसुमित लता कुंजों एवं सरोवरों की सुरभित जल-लहरियों पर मलयानिल अठखेलियां कर रहा है। पक्षियों के मनोहर कलरव से दिशाएं गूंज रही हैं। भ्रमरों की पाक्तया आम्र-रस से छककर मदमाती इधर-उधर गुंजार रही हैं। अशोक आर कदंब वृक्षों से नूतन पल्लवित-पुष्पित वल्लरियां लिपटी हुई हैं। चंदन और अगरु वृक्षों के हरित किसलयों के स्तवक झड़कर यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। सारा सुगंधित वातावरण मन में उल्लास-सा उत्पन्न कर रहा है

सन्ध्या समय। कानन के पृष्ठभाग में देवराज अन्य प्रमुख देवों के साथ विराजमान हैं। प्रकृति की छटा देखकर उनका हृदय आज कुछ अधिक ही उल्लसित है। उन्होंने मनोरंजनार्थ सभी अप्सराओं को वहीं बुलाने की आज्ञा दी।

तभी समाचार मिला कि देवर्षि नारद देवराज से मिलने नंदन कानन मे आए हुए हैं। इंद्र ने उन्हें तुरंत बुलवा भेजा। उनका यथोचित सत्कार किया। अर्घ्य, पादयादि से पूजाकर सुंदर, स्वादिष्ट फल-मूल इत्यादि भेंट किए और अपने पार्श्वभाग में ही एक उच्च आसन पर बिठाया।

देवराज देवर्षि से उनके परिभ्रमण-संबंधी चर्चा करने लगे। मर्त्यलोक, पाताललोक का हालचाल पूछा। फिर वे उनसे अन्यान्य विषयों पर हास-परिहास में निमग्न थे कि उनकी आंखों के सामने बिजली-सी कौंधने लगी वार्ता बंद हो गई और...

छन-न-न-न...छनाक्...

विद्युत किरणें-सी फूटीं और छन-न-न-न-छ-न-न...

नारद की आंखें चौंधियाने लगीं। रूप-सौंदर्य का ऐसा धमाका! देवर्षि की आंखें विस्मय से विस्फारित हो गईं। बार-बार विद्युत कौंधती है? नहीं, एक-एक कर देवाप्सराएं अंदर आ रही हैं—रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा, घृताची, मेनका आदि।

सारा उपवन संगीत से भर गया। रूप और यौवन की मदिरा पीकर जैसे प्रकृति भी और उन्मादिनी हो गई।

इंद्र ने देखा—देवर्षि अपलक अप्सराओं पर अपनी दृष्टि टिकाए हुए हैं, वे मानो लोक-लोकांतर की सारी चर्चाएं भूल गए हों। इंद्र मुसकरा दिए। फिर नारद का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए बोले—

''तपोधन! आज देवलोक का और, विशेष रूप से, हमारी सभा का यह परम सौभाग्य है कि आप यहां उपस्थित हैं। आपके सामने देवलोक की श्रेष्ठ अप्सराएं उपस्थित हैं, जो अपना नृत्य प्रस्तुत करने को आतुर हैं। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप ही इस कार्यक्रम का सूत्रपात करें। इनमें से जो अप्सरा सर्वश्रेष्ठ लगे उसी को आप सर्वप्रथम नृत्य एवं गायन प्रस्तुत करने का आदेश दें, जिससे हमारी सभा की शोभा-वृद्धि हो।''

नारद असमंजस में पड़ गए। उन्होंने सारे लोक देखे थे, किंतु इन अप्सराओं जैसे रूप-सौंदर्य एवं मादक यौवन की झलक कभी नहीं देख पाए थे। लक्ष्मी और पार्वती जैसी पूजनीया जगताराध्य देवियां भी देवर्षि का पूरा सम्मान देती थीं। उनकी तरफ तो किसी दूसरी दृष्टि से देखा नहीं जा सकता था। किंतु यहां तो शरीर-सौष्ठव लहराती-उछालती नर्तकियां हैं। एक से बढ़कर एक! नारद किसको श्रेष्ठ कह दें? और फिर तपोनिष्ठ नारद सौंदर्य के पारखी थोड़े ही हैं! उन्होंने ऐसा चयन जीवन में कहां किया है? वे मौन होकर तटस्थ भाव से अप्सराओं को घूरते रह गए।

उधर चंचल अप्सराओं में देवर्षि को असमंजस देखकर हँसी के फव्वारे फूट पड़े। नारद कुछ झेंप-से गए।

चतुर इंद्र मुसकरा दिए। बोले, ''हम आपके निर्णय की प्रतीक्षा कर

रहे हैं, देवर्षि। आपको तो तीनों लोकों का अनुभव है। कुछ तो कहिए।''

व्यवहारकुशल नारद संभल गए। बोले, ''सुंदरियो! तुम सभी कल्पना से भी अधिक सुंदर हो। तीनों लोकों में तुम्हारी कोई समानता नहीं। तुम्हारा अक्षय यौवन अनुपम है। देवलोक तुमसे गौरवान्वित है। तुम सब सदैव दूसरों से प्रशंसित होती रहती हो, लेकिन आज वही सुंदरी स्वयं आगे आकर अपना नृत्य प्रस्तुत करे जिसको अपनी कला पर पूरा भरोसा हो, जो स्वयं को रूप-गुण में सर्वश्रेष्ठ मानती हो। हम आज आपका ही आत्मविश्वास देखना चाहते हैं।''

नारद की बात सुनते ही अप्सराओं की हँसी रुक गई। गंभीरता छा गई उनमें। रोज अपनी प्रशंसा सुन-सुनकर वे फूली नहीं समाती थीं, किंतु ऐसा प्रश्न तो उनके सामने कभी नहीं आया था!

उनमें से प्रत्येक अप्सरा अपने-आपको श्रेष्ठ मानती है, किंतु देवराज एवं देवर्षि के सामने अपनी श्रेष्ठता का दावा कौन करे? वे नारी-सुलभ लज्जा से एक-दूसरे का मुंह ताकने लगीं।

देवराज इंद्र स्वयं नारद की इस उक्ति से बहुत प्रसन्न हुए थे। बोले ''हां सुंदरियो! तुमने सदा दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनी है और इसका निर्णय तो आज तक मैं भी नहीं कर पाया कि तुममें सबमें श्रेष्ठ कौन है। आज इसका निर्णय हो जाने से हमारी भी दुविधा मिट जाएगी...तो जिसको अपनी कला और अपनी सुंदरता पर पूरा भरोसा हो वह आगे आए और अपनी स्वर-लहरी और नूपुर-ध्वनि से गुंजा दे इस उपवन को।''

अप्सराएं और दुविधा में पड़ गईं। उनके मुंह लटक गए।

तभी मेनका ने उन्हें उबार लिया। अपनी सहज मुसकान बिखेरती हुई वह विनम्र वाणी में बोली—

''देवराज! हम नारियों में अपनी सुंदरता और गुण का अभिमान होना स्वाभाविक ही है। लेकिन क्या कभी कोई गुणी अपनी प्रशंसा स्वयं किया करता है? हम तो आज का निर्णायक देवर्षि को ही मानती हैं। वे जो भी निर्णय देंगे, सर्वमान्य होगा।''

अनुभवी और समस्त लोकों के ज्ञाता नारद बोले, ''सुंदरियो, यह

निर्णय देना हमारे वश से भी बाहर की बात है। किंतु एक व्यक्ति ऐसा है जो इस बात का निर्णय अवश्य कर सकता है।''

कौन है वह?''

एक साथ कई अप्सराओं के साथ देवराज इंद्र भी बोल पड़े और सभा में इधर-उधर देखने लगे।

नारद बोले, ''वह व्यक्ति इस सभा में उपस्थित नहीं है, देवराज! वह तो मर्त्यलोक में है।''

कौन? मर्त्यलोक में ऐसा कौन है?''

महामुनि दुर्वासा!'' नारद बोले, ''वे आजकल हिमालय पर्वत पर घोर तपस्या कर रहे हैं। यदि उनका तप और अधिक उद्दीप्त हो गया तो आपके इंद्रासन के लिए ही घातक हो सकता है। जो सुंदरी उनके पास जाकर अपने नृत्य और संगीत से उनकी तपस्या भंग कर देगी वही त्रलोक्य में श्रेष्ठ रूपांगना कहलाने की अधिकारिणी होगी...और वही देवराज की सभा में सर्वप्रथम नृत्य-गायन प्रस्तुत करने का गौरव पा सकेगी ''

सभा में सन्नाटा छा गया।

विशेष रूप से इंद्र और अप्सराओं का हृदय अवसाद से भर गया—दुर्वासा के क्रोध से सभी परिचित थे। मेनका, रंभा, उर्वशी आदि सभी अप्सराएं एक-दूसरे का मुंह ताकने लगीं। कौन जाए मौत के मुंह में?

लेकिन नारद ने यह भी कह दिया था कि देवराज के सिंहासन को खतरा हो सकता है दुर्वासा के तप से! अपने स्वामी को स्वामिभक्ति दिखाने का अवसर तो यही है। देवराज इंद्र के राज्य में उन्होंने आज तक परम सुख-ऐश्वर्य भोगा है। यदि उन्होंने आज कुछ नहीं किया तो क्या वे कृतघ्न नहीं मानी जाएंगी?

वातावरण अत्यंत बोझिल हो गया।

तभी अपने सहज संकोची स्वभाव के कारण अप्सराओं में सबसे पीछे खड़ी वपु नाम की अप्सरा ने आगे आकर देवराज को प्रणाम किया। उसका रक्ताभ मुखकमल स्वाभिमान से उद्दीप्त था। उसके दीर्घ, आयत

लोचनों में आत्मविश्वास की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर थी। उसका एक-एक अंग यौवनाधिक्य से फटा पड़ता था। सांसों के साथ वपु के वक्ष का उतार-चढ़ाव किसी धीर से धीर पुरुष को भी कामाविष्ट कर सकता था वह विनीत स्वर में बोली—

"पूज्य! मैं इस चुनौती को स्वीकार करती हूं। मैं हिमालय पर्वत पर महामुनि दुर्वासा के पास जाऊंगी। मुझे विश्वास है कि मैं अपने नृत्य-संगीत और सौंदर्य-प्रेरित तीक्ष्ण कामबाणों से उनकी तपस्या अवश्य भंग कर दूंगी और उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकूंगी। आप मुझे अनुमति एवं आशीर्वाद दें।"

वपु की इस विश्वास-भरी वाणी से देवसभा स्तब्ध रह गई। सबकी दृष्टि उस समय वपु पर टिक गई थी।

नारद और इंद्र एक-दूसरे की ओर देखकर आंखों ही आंखों में इस अप्सरा के विश्वास को तौलने लगे।

अप्सराएं अपनी सखी वपु की भावी दुर्गति की आशंका से कांप गईं वे आपस में खुसरपुसर करने लगी थीं।

देवर्षि नारद ने वपु को सचेत करना चाहा, "हमें तुम्हारे निर्णय पर बहुत प्रसन्नता हुई है, सुंदरी! किंतु मैं चाहूंगा कि यदि यह मात्र भावावेश या क्षणिक चंचलता में किया गया निर्णय हो तो उस पर पुनर्विचार कर लिया जाए।"

"देवर्षि। मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए, बस! देवराज मुझे अनुमति दें।

कहकर वपु लहराती हुई-सी कानन के बाहर निकल गई और कुछ ही देर बाद पृथ्वी पर स्थित हिमालय की ओर बढ़ चली।

हिमालय की दुर्गम उपत्यका में महामुनि दुर्वासा का तपोवन। महर्षि दुर्वासा कई वर्षों से निराहार, केवल वायु के सहारे, घोर तपस्या में निरत हैं शरीर अस्थिपंजर हो गया है, फिर भी अपने तेज से इतना देदीप्यमान है कि उससे सूर्य-किरणें-सी फूटती मालूम पड़ती हैं। एक दिव्य ज्योति से उनका सारा शरीर घिरा हुआ है। उस छोटे-से आश्रम में प्रचंड आभा-

सी छिटकी हुई है। किसी पशु-पक्षी आदि को भी उस आश्रम के अंदर प्रवेश करने का साहस नहीं होता। लगता है, आश्रम से आग की लपटें-सी निकल रही हैं। महामुनि के तप से वहां का एक-एक अणु प्रज्वलित हो उठा है।

अप्सरा वपु ने उस तपोवन का वातावरण देखा तो घबरा गई। वह आश्रम के अंदर प्रवेश नहीं कर सकती थी और बाहर आश्रम के आसपास ऐसा सात्त्विक वातावरण था कि मन में शांत भाव की उत्पत्ति होता था। कामेच्छा स्वयं नष्ट हो जाती थी। उस परिवेश में चंचल नृत्य के लिए पग उठने से इनकार कर रहे थे।

वपु संकट में पड़ गई।

उसे याद आया कि नारद ने उससे इस निर्णय पर पुनर्विचार करने का बात कही थी। उसकी सखियों ने भी उसे समझाया था। उसके सामने दुर्वासा का कालरूप और जगत्-प्रसिद्ध क्रोधी स्वभाव घूम गया। वह समझ गई कि आज जीवन-रक्षा की आशा नहीं है।

फिर? क्या करे?

वापस लौट जाए? नहीं! नहीं!! असफलता का भीषण अपमान वह नहा सह सकती। आज या तो उसकी अक्षय सौंदर्य-साधना सफल होगी और महामुनि की तपस्या भंग होगी या फिर वह उनकी कोपाग्नि में भस्म होकर मृत्यु का वरण करेगी। वह असफल होकर वापस देवलोक में नहीं जा सकती।

और...

तपोवन के निकट ही...झन-झना-झन...झन-झना-झन...ता-ता-धिन्-धिन् धिन् धिन्-धिन्...ता-ता...

वपु के पग थिरक उठे। घुंघरू झणन्-झणन् बज उठे। फिर वपु के मुख से गायन की ऐसी स्वर-लहरी फूटी कि उसने जैसे आकाश-पाताल एक कर दिया। सारा तपोवन संगीत से भर गया। आकाश गूंज उठा। कलियां चटक-चटककर खिलने लगीं। असंख्य पक्षी अपना कलरव त्यागकर, वृक्षों की डाल पर अटके संगीत को सुनने में निमग्न हो गए। भागते हिरणों की पांतियां स्तब्ध हो जहां की तहां ठहर गईं। वनराजी से

भौंरे निकलकर एकत्रित हो काले मेघ के समान मंडराने लगे।

सारी प्रकृति सांस रोककर संगीत के स्वरों में खो गई। जिस आश्रम से तप्त झोंके उठ रहे थे, वहां संगीत की शीतल स्वर-लहरी नृत्य करने लगी। नूपुरों की मादक झनकार से दुर्वासा के कान झनझनाए...महामुनि का ध्यान टूट गया!

महामुनि उठकर किसी अदृश्य आकर्षण से खिंचे चले जा रहे हैं...उनके मन-मस्तिष्क में झनझनाहट हो रही है...पैर डगमगा रहे हैं...और क्षण-भर में ही उन्होंने अपने-आपको अनवरत थिरकती हुई वपु की त्रैलोक्यमोहिनी रूप-राशि के सम्मुख खड़े पाया। वह ठगे-से उस उन्मादिनी अप्सरा के अगाध सौंदर्य-सागर में डूबने लगे।

वपु ने दुर्वासा को अपने निकट खड़े देखा। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उसका आत्मविश्वास पुनः जाग्रत हो गया। परमक्रोधी दुर्वासा का आतंक समाप्त हो गया। वह लहराती, नृत्य करती हुई दुर्वासा की ओर बढ़ने लगी। होंठों पर मदभरी मुसकान लाकर उसने अपने मदिर नेत्रों से काम-प्रहार किया...

महामुनि रोमांचित हो गए। उनका युगों से संचित जप, तप, ज्ञान-सब बिखरने लगा। लगा, मानो कोई सामने बिखरे स्वर्ण और रत्नों की राशि लूटा रहा है। उनकी सोई कामनाएं अंगड़ाई लेने लगीं। उनके चरण अपने-आप वपु की ओर उठने लगे...

वे वपु की देहयष्टि का स्पर्श करने ही वाले थे कि अचानक एक झटका लगा। पूर्व-संस्कारों ने उन्हें झकझोर दिया था। वे स्तंभित हो गए। मूर्च्छना टूट गई। चेतना लौट आई। अपनी दिव्य दृष्टि से उन्होंने देखा—ओह! यह तो देवराज और देवर्षि के षड्यंत्र के फलीभूत उनकी तपस्या भंग करने आई अप्सरा वपु है!

महामुनि अकस्मात पूर्ण रूप से बदल गए। उनके कामातुर नेत्रों से सहसा अंगार बरसने लगे। लोलुप मुखमुद्रा अत्यंत क्रूर हो उठी। तपस्या से जर्जर शरीर कांपने लगा। नथुने फड़कने लगे और उनसे तप्त सांसें फुंकारने-सी लगीं। उन्होंने कालभैरव का रूप धारण कर लिया।

अपना दाहिना हाथ उठाकर उन्होंने सहसा वपु की उन्मादिनी नृत्य-

क्रिया को स्तब्ध कर दिया।

वपु के पैर जड़ हो गए। स्वर सूख गया। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि जीवन का अंत समीप है! महर्षि दुर्वासा अब कुपित होकर साक्षात् यमराज के समान सामने खड़े थे। वह कांपकर महामुनि के चरणों में गिरना ही चाहती थी कि बिजली के झटके की तरह दुर्वासा पीछे हट गए। वह हिमालय को कंपाते हुए गरजे—

''क्षुद्र अप्सरा! अपने रूप और यौवन में मदमाती होकर तू मुझे छलने यहां आई है! भोगी इंद्र की निधि तू आज एक योगी की संचित जीवन-निधि लूटने आई है! मेरा तपोबल तेरे जैसे अकिंचन प्राणी के प्रयत्न से खंडित नहीं हो सकता। तुझे अपने अपराध का फल भोगना पड़ेगा। अब तो तुझे देवराज और स्वयं देवर्षि भी नहीं बचा सकेंगे...''

महामुनि के शब्दों से वपु का शरीर दग्ध होने लगा। वल्लरियों पर लदे पत्र-पुष्प झुलस गए। पक्षी हाहाकार कर उठे और इधर-उधर भागने लगे। जिस प्रकृति में अभी संगीत भरा था, उसमें आग भर गई।

वपु कुछ बोलना चाहती है किंतु जिह्वा हिलती नहीं। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। उसने सिर धरती पर रगड़ दिया। आंखें कुछ निवेदन करने के लिए दुर्वासा पर टिका दीं।

किंतु दुर्वासा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी भृकुटि और टेढ़ी होती गई। वे फिर गरजे—

''दुष्टा! तुझे अपने रूप और यौवन का बहुत अभिमान है। जा! तू अधम पक्षी की योनि में जन्म ले, जिससे तुझे अपने रूप और यौवन का ज्ञान न हो सके!''

वपु पंख-कटे पक्षी की तरह तड़पने लगी।

उसका रूप सौंदर्य क्षण-भर में विलुप्त हो गया। प्राण चीत्कार कर उठे। संपूर्ण तपोवन 'त्राहिमाम्' 'त्राहिमाम्' कर उठा। सारी प्रकृति मानो वपु की ओर से क्षमा-याचना करने लगी। एक असहाय अबला का छोटा-सा अपराध और ऐसा कठोर दंड!

बहुत अधिक है!

बहुत कठोर है!

दुर्वासा को भी कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। वे कुछ पिघले। गंभीर वाणी में बोले, "वपु! इस पक्षी-योनि में तू मात्र सोलह वर्ष तक रहेगी और फिर किसी शस्त्र से निहत होकर, देह त्यागने के पश्चात् पुनः अपना अप्सरा रूप धारण करके स्वर्गलोक जा सकेगी!"

वपु ने देखते ही देखते दम तोड़ दिया।

और महामुनि अपने आश्रम की ओर चले।

किंतु उनके पैर लड़खड़ा रहे हैं। मन अत्यधिक अशांत हो गया। अंतःकरण से प्रतिहिंसा की दुर्गंध आ रही है। तपस्या की संचित निर्मलता भंग हो गई। साधना के तार टूट गए। उन्होंने आश्रम में जाकर समाधि लगाने का भरपूर प्रयास किया, किंतु मन भटक-भटक जाता। हृदय ईर्ष्या और क्रोध की आग में धधक रहा है। ध्यान से तार जुड़ नहीं रहे हैं।

उन्होंने कई स्थान बदल-बदलकर समाधि में लीन होने का प्रयत्न किया किंतु सब व्यर्थ। उन्हें लगा जैसे धरती-आकाश उनकी प्रतिहिंसा पर उन्हें दुत्कार रहे हैं। नभ-मंडल में अप्सराएं वपु के शोक में रो रही हैं, स्वयं देवराज इंद्र और देवर्षि नारद एक अबला के शोक में दुःखी हैं।

दुर्वासा हिमालय का वह तपोवन छोड़कर आकाशगंगा के तट पर चले गए।

# महर्षि च्यवन और सुकन्या

महाराज शर्याति—अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय राजा।

न्याय-प्रिय, धर्म-रक्षक, परदुःख-कातर, प्रजा-पालक एवं साधु-संतों के सेवक।

मन में ऋषि-आश्रम देखने की लालसा हुई। निकल पड़े महर्षि च्यवन के आश्रम की ओर। साथ में कुछ वरिष्ठ मंत्री। गज एवं अश्वारोहियों की कुछ टुकड़ियां। महारानी एवं प्राणप्रिय पुत्री सुकन्या।

आश्रम के बाहर ही डेरा डाल दिया गया।

सर्वत्र हरियाली। चिड़ियों की स्वच्छंद चहचहाहट। झूमते-नाचते मोर। कोयल की रसीली कूक। तलैया में तैरते शुभ्र हंसों के जोड़े। खिले हुए लाल कमल। वृक्षों से लिपटी लताएं और उन पर मंडराते भौंरे। सबका मन आनंद-विभोर हो गया।

सुकन्या अपनी सखी शला के साथ इस प्रकृति-वैभव में विचरण करती हुई आश्रम में प्रवेश कर गई। वह मंत्र-मुग्ध हिरनी-सी लता-वृक्षों को छूती, इधर-उधर भटकने लगी।

एक वट-वृक्ष के समीप मिट्टी का ढूह-सा लगा है। उस पर कहीं-कहीं घास उग आई है। दीमकों की पंक्तियां ऊपर नीचे आ-जा रही हैं। ऊपर की ओर दो समानांतर छिद्र, जिनमें से कोई वस्तु चमक रही है।

सुकन्या का कौतूहल बढ़ा—मिट्टी में यह क्या चमक रहा है? कई बार देखा। कुछ पता नहीं चल सका।

उसने एक सूखी टहनी ली और दोनों छिद्रों में घुसा दी। मिट्टी का ढूह चरमराया। एक चीत्कार फूटी। सूराखों में से रक्त की धार बह निकली। सुकन्या घबरा गई।

मिट्टी का ढूह सहसा [illegible] हो गया

सारे प्रदेश में एक कंपन-सा आ गया। चिड़िया, मोर, तोते पंख फड़फड़ाकर इधर-उधर भागने लगे। वृक्ष एवं वल्लरियां कांप उठीं। सारा आश्रम हिल उठा।

आश्रमवासी मिट्टी के दूह की ओर दौड़े।

महाराज और महारानी भी अपने परिचारकों के साथ इधर ही आ पहुंचे

सबने देखा—मिट्टी के दूह में से निकला महर्षि च्यवन का जर्जर शरीर, जलती आंखें और उनमें से बहती रुधिर-धार। महर्षि प्रचंड क्रोध से कांप रहे थे।

आह! तपस्या-रत महर्षि च्यवन! मैंने यह क्या किया?—सुकन्या को अपराध-बोध हुआ। उसने भय से आंखें मूंद लीं।

महाराज शर्याति घबरा गए। एक ब्रह्मनिष्ठ की तपस्या भंग हुई। महर्षि का कोप! अब क्या होगा? उन्हें अपना विनाश सन्निकट जान पड़ा और प्राणप्रिय पुत्री सुकन्या का भविष्य...ओह!

महाराज शर्याति महर्षि च्यवन के चरणों में गिर गए।

"मेरी पुत्री का अपराध क्षमा हो, देव!"

"......"

"मैं, शर्याति, आपसे क्षमा-याचना करता हूं, ऋषिवर!"

"......"

एक लंबी चुप्पी।

महर्षि की आंखों से रुधिर टपक रहा है। और चेहरे से पीड़ा-मिश्रित क्रोध।

सब अवसन्न खड़े हैं—किंकर्तव्यविमूढ़।

सहसा एक सुकोमल, मंद स्वर फूटा, "मैं पश्चात्ताप करूंगी...हां, मैं पश्चात्ताप करूंगी..."

सुकन्या बोल रही थी।

"मैं आजीवन महर्षि की सेवा करूंगी—महर्षि की पत्नी बनकर!" वह उनके चरणों में गिर गई।

उसके चेहरे पर शांति की आभा फूट आई थी। बुद्धि एक निर्णय

पर पहुंच गई थी। अपने अपराध के प्रायश्चित्त के लिए उसने एक व्रत लिया था—आजीवन सेवा का व्रत।

सुनकर सभी स्तब्ध रह गए।

महाराज शर्याति विचलित हो गए। यह क्या किया उनकी पुत्री ने? कहां कली-सी सुकोमल, अल्पवय राजकन्या और कहां तपश्चर्या से रूक्ष, महर्षि का शुष्क शरीर!

अंधकारमय जीवन।

"नहीं! यह नहीं हो सकता। मैं स्वयं इसका दंड भुगत लूंगा—मेरी अबोध कन्या नहीं।"

"अपने किए कार्यों का फल मैं स्वयं ही प्राप्त करूंगी, पिताजी! मैं अपना जीवन महर्षि के चरणों में अर्पित करती हूं। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।"

सुकन्या ने दृढ़ता के साथ कहा।

महर्षि के चेहरे की तनी हुई रेखाएं ढीली हो गईं। एक प्रसन्नता झलक आई उनके मुख-मंडल पर। आंखों से बहती रुधिर-धार बंद हो गई। क्रोध का स्थान दया और प्रेम ने ले लिया।

आश्रम के वातावरण में एक स्वर्गिक आनंद की लहर-सी दौड़ पड़ी। भागते पशु-पक्षी भी ठहरकर महर्षि च्यवन और सुकन्या के दर्शन करने लगे। कोयल फिर कूकने लगी। पुष्प पुनः खिल उठे।

अश्रुपूरित नेत्रों से सुकन्या ने अपने पिता, माता, सखियों और साथ आए अन्य राजदरबारियों से विदा ली। महर्षि का हाथ पकड़कर वह कुटिया की ओर ले चली। ब्रह्मचारी उसे मार्ग दिखाते हुए चले।

सुकन्या ने कौशेयांबरों को त्याग दिया। वल्कल पहन लिए। वन्य फूलों, लता-वल्लरियों से परिचय कर लिया। वन्य पशुओं की सहचरी बन गई। परछाईं की भांति च्यवन के साथ रहकर वह पति की सेवा-शुश्रूषा में लीन हो गई।

महर्षि के जागने से पहले वह जागती। उनको सुलाकर सोती। अपने हाथों से पवित्र और स्वादिष्ट भोजन बनाकर खिलाती। अस्थिपिंजर जैसे

शरीर पर मालिश करती और गरम जल से सेंकती।

च्यवन उसे पाकर धन्य हो गए। उनके शरीर में स्फूर्ति आने लगी।

और एक दिन--

उषा-काल। प्राची में उषा की लालिमा फूटी। कमल-ताल विकसित पुष्पों से भरा था। शीतल, मंद-सुगंध समीर चल रही थी। सुकन्या सरोवर में स्नान कर रही थी।

आकाश मार्ग से जाते दो देव पृथ्वी पर स्नान करती अनिंद्य सुंदरी को देखकर ठिठक गए। उन्होंने देवयान नीचे उतार लिया और चुपचाप तट पर खड़े होकर सुकन्या की सौंदर्य-राशि को ललचाई आंखों से निहारने लगे। दोनों देव स्वयं अश्विनीकुमार थे।

सुकन्या ने स्नान करके वस्त्र पहने।

अश्विनीकुमार निकट आ गए। कुछ आहट मिली--दो दिव्य पुरुष सामने खड़े थे! सुकन्या लजा गई।

"कल्याण हो, देवी!"

"कौन? आप कौन हैं, आर्य?"

"हम देव हैं। आदित्य के वंशधर। विवस्वान के पुत्र--अश्विनीकुमार मां अश्विनी के जुड़वां पुत्र।"

"ओह! अश्विनीकुमार! देवों के वैद्य!" सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

"यह दस्र है।" एक देव युवक ने कहा।

"यह नासत्य है।" दूसरे ने कहा।

"मैं महर्षि च्यवन की भार्या सुकन्या आपको प्रणाम करती हूं...आप देवों के दर्शन कर मैं धन्य हुई।"

सुकन्या की आंखों में श्रद्धा-भाव था।

किंतु अश्विनीकुमार कुछ और चाहते थे।

"महर्षि च्यवन की भार्या! जो असमय ही बूढ़ा हो गया है!" दस्र ने कहा

"ओह! कितने दुःख की बात है! कहां यह मदमाता रूप-लावण्य

पर पहुंच गई थी। अपने अपराध के प्रायश्चित्त के लिए उसने एक व्रत लिया था—आजीवन सेवा का व्रत।

सुनकर सभी स्तब्ध रह गए।

महाराज शर्याति विचलित हो गए। यह क्या किया उनकी पुत्री ने? कहां कली-सी सुकोमल, अल्पवय राजकन्या और कहां तपश्चर्या से रुक्ष, महर्षि का शुष्क शरीर!

अंधकारमय जीवन।

''नहीं! यह नहीं हो सकता। मैं स्वयं इसका दंड भुगत लूंगा—मेरी अबोध कन्या नहीं।''

''अपने किए कर्मों का फल मैं स्वयं ही प्राप्त करूंगी, पिताजी। मैं अपना जीवन महर्षि के चरणों में अर्पित करती हूं। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।''

सुकन्या ने दृढ़ता के साथ कहा।

महर्षि के चेहरे की तनी हुई रेखाएं ढीली हो गईं। एक प्रसन्नता झलक आई उनके मुख-मंडल पर। आंखों से बहती रुधिर-धार बंद हो गई। क्रोध का स्थान दया और प्रेम ने ले लिया।

आश्रम के वातावरण में एक स्वर्गिक आनंद की लहर-सी दौड़ पड़ी। भागते पशु-पक्षी भी ठहरकर महर्षि च्यवन और सुकन्या के दर्शन करने लगे। कोयल फिर कूकने लगी। पुष्प पुनः खिल उठे।

अश्रुपूरित नेत्रों से सुकन्या ने अपने पिता, माता, सखियों और साथ आए अन्य राजदरबारियों से विदा ली। महर्षि का हाथ पकड़कर वह कुटिया की ओर ले चली। ब्रह्मचारी उसे मार्ग दिखाते हुए चले।

सुकन्या ने कौशेयांबरों को त्याग दिया। वल्कल पहन लिए। वन्य फूलों, लता-वल्लरियों से परिचय कर लिया। वन्य पशुओं की सहचरी बन गई। परछाईं की भांति च्यवन के साथ रहकर वह पति की सेवा-शुश्रूषा में लीन हो गई।

महर्षि के जागने से पहले वह जागती। उनको सुलाकर सोती। अपने हाथों से पवित्र और स्वादिष्ट भोजन बनाकर खिलाती। अस्थिपिंजर जैसे

शरीर पर मालिश करती और गरम जल से सेंकती।

च्यवन उसे पाकर धन्य हो गए। उनके शरीर में स्फूर्ति आने लगी।

और एक दिन—

उषा-काल। प्राची में उषा की लालिमा फूटी। कमल-ताल विकसित पुष्पों से भरा था। शीतल, मंद-सुगंध समीर चल रही थी। सुकन्या सरोवर में स्नान कर रही थी।

आकाश मार्ग से जाते दो देव पृथ्वी पर स्नान करती अनिंद्य सुंदरी को देखकर ठिठक गए। उन्होंने देवयान नीचे उतार लिया और चुपचाप तट पर खड़े होकर सुकन्या को सौंदर्य-राशि को ललचाई आंखों से निहारने लगे। दोनों देव स्वयं अश्विनीकुमार थे।

सुकन्या ने स्नान करके वस्त्र पहने।

अश्विनीकुमार निकट आ गए। कुछ आहट मिली—दो दिव्य पुरुष सामने खड़े थे! सुकन्या लजा गई।

"कल्याण हो, देवी!"

"कौन? आप कौन हैं, आर्य?"

"हम देव हैं। आदित्य के वंशधर। विवस्वान के पुत्र—अश्विनीकुमार। मां अश्विनी के जुड़वां पुत्र।"

"ओह! अश्विनीकुमार! वैदों के वैद्य!" सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

"यह दस्र है।" एक देव युवक ने कहा।

"वह नासत्य है।" दूसरे ने कहा।

"मैं महर्षि च्यवन की भार्या सुकन्या आपको प्रणाम करती हूं...आप देवों के दर्शन कर मैं धन्य हुई।"

सुकन्या की आंखों में श्रद्धा-भाव था।

किंतु अश्विनीकुमार कुछ और चाहते थे।

"महर्षि च्यवन की भार्या! जो असमय ही बूढ़ा हो गया है!" दस्र ने कहा।

"ओह! कितने दुःख की बात है। कहां यह मदमाता रूप-लावण्य

और कहां वह जर्जर, शुष्क शरीर! धूल में रत्न मलिन हो रहा है। इस कीचड़ में तेरा स्थान नहीं, देवी, तू तो स्वर्ग में खिलने योग्य कमल है।'' नासत्य ललचाई आंखों से देख रहा था।

सुकन्या चौंक पड़ी।

सावधान हो गई।

''आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए, देव! मैं राजा शर्याति की पुत्री और तपोधन ब्रह्मनिष्ठ, तेजस्वियों में शिरोमणि महर्षि च्यवन की पत्नी हूं। आप स्वर्ग के अजर-अमर प्राणी हैं, मैं नाशवान मृत्तिका की क्षुद्र वस्तु!''

''हम तुम्हें भी अजर-अमर बनाने आए हैं, देवी। हमारा वरण करो। हमारे साथ चलो।''

''मुझे क्षमा करें, देव। मैं विवाहिता हूं। एक पत्नी के लिए एकांत में किसी परपुरुष का दर्शन एवं संभाषण भी शासन-विरुद्ध है।'' सुकन्या अश्विनीकुमारों की धृष्टता से क्षुब्ध होकर बोली।

देवों के वैद्य चिरयुवा अश्विनीकुमारों को प्रथम बार ऐसा तिरस्कार सहन करना पड़ा था। और वह भी धरती की एक साधारण-सी युवती से!

उन्होंने हार नहीं मानी। अपनी माया का जाल फैलाया। चारों ओर वासंती सुषमा छा गई। वातावरण नशीला हो गया। सर्वत्र जैसे कामदेव ने डेरा डाल दिया हो। स्थिर रह पाना कठिन हो गया। सुकन्या का चित्त भी डोलायमान होने लगा। किंतु अपने पिता और अपने तेजस्वी पति का स्मरण कर वह शीघ्र ही संभल गई।

सोचा—शक्तिशाली देवों से टकराना उचित नहीं। ये देवताओं के वैद्य हैं। इनके लिए कुछ भी करना असंभव नहीं। क्यों न इनसे लाभ उठाया जाए!

बोली, ''हे देवपुत्रो! मैं आपकी बात पर विचार करूंगी। लेकिन एक शर्त है। आप मेरे पति महर्षि च्यवन को स्वस्थ कर दें। तपश्चर्या ने उनको अकाल ही जर्जर बना दिया है। आप अपनी शक्ति और अद्भुत कौशल से उन्हें फिर से युवा कर दें।''

यह तो हमारे बाएं हाथ का खेल है!'' दोनों अश्विनीकुमार एक

साथ बोल पड़े।

उन्हें अपनी आशा फलीभूत होती नजर आई।

''तुम हमें अपने पति के पास ले चलो।''

''पधारें, देव!''

दोनों अश्विनीकुमार सुकन्या के पीछे-पीछे चले।

महर्षि ध्यान में लीन थे—कृशकाय। प्रज्ञाचक्षु। शुभ्र केश।

अश्विनीकुमारों ने निकट आकर उन्हें अपना परिचय दिया—''ऋषिवर! हम देववैद्य अश्विनीकुमार आपको नमस्कार करते हैं। राजपुत्री सुकन्या के आग्रह से हम आपको स्वस्थ करने आए हैं।''

''देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार!! आप स्वयं? आश्चर्य!''

च्यवन गद्‌गद हो गए। देवों के सम्मान में वह उठकर खड़े हो गए। हाथ जोड़ दिए।

''मैं आपका उपकार कभी नहीं भूलूंगा, देव। कृपा करके मुझे भी सुकन्या के अनुरूप वय और सौंदर्य प्रदान करें।''

देव वैद्यों ने 'एवमस्तु' कहा और आश्रम में ही एक अद्‌भुत, गहरा जलकुंड खुदवाया।

अंधे महर्षि च्यवन का हाथ पकड़कर वे दोनों उनके साथ गहरे कुंड में उतर गए।

सुकन्या किनारे पर अधर खड़ी प्रतीक्षा करने लगी। सोचने लगी—क्या देववैद्य सचमुच चमत्कार कर दिखाएंगे? आश्रमवासियों ने क्या कुछ नहीं किया महर्षि को नीरोग करने के लिए? किंतु सब निष्फल। यदि आज वे स्वस्थ हो जाएं तो...

सुकन्या मधुर कल्पना में खो गई।

तभी जलकुंड से तीन चेहरे उभरते दिखाई पड़े—तीनों युवा, तेजोमय! परम सुंदर। एक जैसे रंग-रूप।

दो तो अश्विनीकुमार हैं...यह तीसरा कौन है?

सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

वे तीनों ही मुसकराते हुए समवेत स्वर में बोले, ''सुमुखि! हम तीनों में से किसी एक का पति के रूप में [illegible] करके तुम अपना जीवन

सुखमय बना सकती हो।''

सुकन्या विस्फारित नेत्रों से तीनों को देख रही थी। यह उसकी परीक्षा की घड़ी थी!

उसने धैर्य नहीं खोया। अपने निर्मल अंतःकरण में अपने पति महर्षि च्यवन का ध्यान कर विनीत स्वर में बोली—

'देववैद्यो! मैं उन ऋषिवर च्यवन की अर्धांगिनी हूं, जिन्होंने कभी परस्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखा! मैं जीवन-भर उनकी दासी रहना चाहती हू मुझ पर कृपा करें, देव! मुझे मेरे पति से मिला दें! मैं आपकी कृतज्ञ हू

अश्विनीकुमार सुकन्या के पातिव्रत्य से प्रसन्न हो गए। उन्होंने च्यवन के दोनों हाथ पकड़कर जलकुंड से बाहर निकाला—जैसे अभी-अभी नया कमल खिला हो। अनुपम, सुगठित, सुंदर शरीर! मुख-मंडल पर पूर्णिमा के चंद्रमा की-सी आभा!

सुकन्या निहाल हो गई। भागकर वह पति के चरणों से लिपट गई।

महर्षि ने उसको अपने अंक में भर लिया। दोनों के शरीर रोमांचित हो गए।

च्यवन ने ज्योति लौटने पर पहली बार नेत्रों से सुकन्या की रूपराशि देखी कैसा अनिंद्य सौंदर्य था! रूप और यौवन का ऐसा संयोग अन्यत्र दुर्लभ था!

च्यवन-दंपती ने श्रद्धापूर्वक अश्विनीकुमारों का अभिनंदन किया—तुम महान् हो! सर्वज्ञ हो! पूज्य हो!''

दिशाएं नाच उठीं। देवताओं ने स्वर्ग से पुष्पवर्षा की। आश्रमवासी मंगलगीत गाने लगे। आश्रम में जैसे स्वर्ग ही उतर आया।

पुलकित सुकन्या रोमांचित होकर पति के अंक में लुढ़क गई।

# इंद्र का अहंकार-हरण

सुकन्या की आंखों के सामने पिता और परिजनों से विदाई का दृश्य घूम रहा था पिताजी की बिलखती आंखें। उनका कातर मुख। घर लौटते हुए बार बार मुड़कर अपनी पुत्री को देखना।

कितने दुःखी रहते होंगे पिताजी अपनी प्राणप्रिय पुत्री के दुःख का स्मरण करके? वे कैसे भूल पाएंगे जीवन के दो छोर—एक ओर किशोर वय का कोमलांगी, महलों में पली, सुंदर, सुकुमारी सुकन्या! और दूसरी ओर असमय ही वृद्ध, अंध, जर्जर, जंगल में पला च्यवन का रुक्ष शरीर! कैसा मेल था वह?

किंतु आज देवों की कृपा से सब कुछ बदल गया था! पतझर मधुमास बन गया। अमावस की काली रात पूर्णिमा में ढल गई। रोगी वृद्ध च्यवन तेजस्वी युवक बन गए। शांत सागर में ज्वार-सा उमड़ने लगा...

सुकन्या के मन में पिता शर्याति से मिलने की इच्छा हुई। उसने अपनी इच्छा पति के सामने रखी। और एक दिन दोनों प्रसन्न मन से महाराज शर्याति से मिलने चले।

महल में समाचार पहुंचा कि सुकन्या आई है—राजा शर्याति सुनते ही अपने राजदरबारियों-सहित पुत्री से मिलने के लिए दौड़ पड़े।

देखा—राजभवन के बाहर सुकन्या एक अत्यंत सुंदर, तेजस्वी युवक के साथ खड़ी मुसकरा रही है।

शर्याति के पांव एकदम ठिठक गए।

यह युवक कौन है? क्या सुकन्या अपने पति च्यवन को बूढ़ा, रोगी समझकर उन्हें त्यागकर चली आई है? क्या महर्षि च्यवन का निरादर कर किसी और पुरुष से नाता जोड़ लिया है उनकी पुत्री ने? यह धर्म के विरुद्ध है! असह्य है!

स्नेहातुर सुकन्या पिता से लिपटने को भागी। किंतु शर्याति गरज उठे—

"वहीं ठहर जा, दुष्टे! खबरदार जो आगे बढ़ी तो!"

"पिताजी!" कातर वाणी में सुकन्या ने कहा।

"पिता नहीं, राजा!"

सुकन्या घबरा गई। उसने अपने लिए पहली बार पिता का ऐसा कठोर रूप देखा था। उसे आश्चर्य हुआ। अपमानित भी हुई।

"राजन्..." महर्षि च्यवन कुछ बोलने को आगे बढ़े।

"तुम चुप रहो, युवक!" शर्याति ने उपेक्षापूर्ण दृष्टि डालकर उन्हें कुछ भी कहने से रोक दिया।

"कलंकिनी! मैं तुझे मृत्युदंड दूंगा। मैं समाज की परंपराओं का रक्षक राजा हूं। समाज की सुचारु व्यवस्था का वाहक हूं मैं। मेरी ही पुत्री ने इस व्यवस्था को भंग कर एक घृणित कार्य किया है। तूने तपोनिष्ठ महर्षि च्यवन का त्याग करके इस नीच युवक से..."

"पिताजी...नहीं...नहीं..." सुकन्या चीख पड़ी।

शर्याति ने क्रोध में तलवार उठा ली थी।

च्यवन ने भागकर सुकन्या को अंक में भर लिया और शर्याति की ओर देखते हुए चिल्लाकर कहा—

"खबरदार राजा! मैं च्यवन भार्गव तुम्हें सावधान करता हूं। तलवार वहीं रोक लो!"

राजा स्तंभित हो जड़वत् वहीं खड़े रहे। तलवार वाला हाथ वहीं रुक गया।

कुछ देर तक सन्नाटा छाया रहा। वातावरण सन्-सन् करता रहा। राजा की तंद्रा टूटी। धीरे से बुदबुदाए, "च्यवन! महर्षि च्यवन!"

"हां मैं स्वयं च्यवन हूं, राजन्! तुमने बिना समझे-बूझे अपनी पुत्री पर क्रोध किया है। यह परम सती-साध्वी है। इसी के कारण मैं पूर्णतः स्वस्थ और नीरोग हो गया हूं।"

"महर्षि च्यवन!" राजा आश्चर्य में डूब गए।

"हां राजन्! मैं च्यवन ही हूं। मुझ पर देवों की कृपा हुई है। देववैद्य

देवराज इंद्र को सूचना मिली कि उनकी अनुमति के बिना धरती पर होने वाले एक विशाल यज्ञ में अश्विनीकुमारों को भी यज्ञ-भाग दिया जा रहा है। वे क्रोध से धधक उठे—उनकी अवहेलना! उनकी व्यवस्था का उल्लंघन!

"यज्ञ का आचार्य कौन है?" इंद्र ने गरजकर कहा।

"महर्षि च्यवन हैं, देवराज।" एक देव ने उत्तर दिया।

"उन्होंने उन शूद्र अश्विनीकुमारों को कैसे बुला लिया?"

"शूद्र!"

"हां वे दोनों शूद्र ही तो हैं, जो स्वर्ग को छोड़कर धरती पर मानवों की सेवा करते फिरते हैं। उनको यज्ञ-भाग देने वाले का मैं सिर काट दूंगा।"

और क्रोधोन्मत्त देवराज अपने हिरण्यमय रथ पर पर राजा शर्याति के यज्ञ-मंडप में आ धमके।

तूफान-सा आ गया। धरती हिल उठी। यज्ञ-वह्नि आकाश को छूने लगी। घोर गर्जन हुआ। देवराज आगबबूला हो उठे। विकराल भृकुटियां तन गईं। उनकी भुजाएं फड़क रही थीं। दांत कटकटा रहे थे। वे वज्र लेकर च्यवन की ओर दौड़े।

यज्ञ-मंडप में खलबली मच गई। महाराज शर्याति भय से कांपने लगे। पुरोधागण देवराज की स्तुति करने लगे।

मात्र महर्षि च्यवन अविचलित रहे—शांत, गंभीर। फिर मुसकराकर बोले—

"मैं इस यज्ञवेदी पर आपका स्वागत करता हूं, देवराज इंद्र! प्रसन्न हों।"

"मैं तुम्हारा वध करूंगा, च्यवन! वध करूंगा!" आगे बढ़ते हुए वज्रधारी इंद्र गरज रहे थे।

"रुक जाओ, इंद्र! वहीं रुक जाओ! मैं यज्ञ का आचार्य तपोबली च्यवन तुम्हें आगे बढ़ने से वर्जित करता हूं। सावधान!"

इंद्र सहसा रुक गए।

यज्ञ-मंडप में उपस्थित जनसमूह स्तंभित रह गया। सब कुछ

जड़वत् संज्ञाशून्य।

तूने मेरा अपमान किया है, च्यवन!" इंद्र के स्वर में चेतावनी थी मेरी अनुमति के बिना तूने अश्विनीकुमारों को यज्ञ-भाग दिया है। यह मेरी व्यवस्था में हस्तक्षेप है।"

शांत हों, देवराज। आप समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, महाबली हैं! किंतु क्रोध बल का विनाश करता है। अश्विनीपुत्र आपके सेवक हैं। वे अपने सामर्थ्य अनुसार सबकी सेवा करते हैं। सेवा करना धर्म है—देवताओं का भी मानवों का भी। यह विधि की व्यवस्था है। मैंने या अश्विनीपुत्रों ने इस व्यवस्था को तोड़ा नहीं, बल्कि परिपुष्ट किया है। शांत हों, देवराज। हम आपकी स्तुति करते हैं!" च्यवन बोलते गए।

लेकिन अश्विनीकुमार मेरी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। वे उच्छृखल हो गए हैं।"

इंद्र की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला कोई नहीं है इस संसार में। सब आपकी अनुकंपा चाहते हैं! आप सर्वसमर्थ हैं। किंतु अहंकार सामर्थ्य को सीमित कर देता है। परम सामर्थ्यवान तो परमात्मा ही है, शेष सबमें उसी की शक्ति का अंश है—चाहे वह देव हो, दनुज हो, गंधर्व हो या मनुज। अश्विनीकुमारों ने आपकी प्रजा की बहुत सेवा की है। सबको नीरोग रखा है। उन्होंने स्वयं असुरों से कृषि-विद्या सीखकर देवों को उसका ज्ञान दिया है। वे अनवरत आपकी और आपकी प्रजा की सेवा मे लगे रहते हैं, क्या देवेंद्र आज इस बात को भूल गए हैं?" महर्षि च्यवन ओज-भरे कंठ से कहते जा रहे थे।

इंद्र की तंद्रा टूटी। चेतना का झरोखा खुला। भौंहे ढीली हो गईं। अहंकार घुलने लगा। वज्र वाला हाथ नीचे आ गया।

च्यवन फिर कहने लगे, "आप विराजिए, देवराज! हम आपका आह्वान करते हैं। आपको सोमरस अर्पित करते हैं। आप सोमरस पीकर सपन्न हों। सोमपान का अधिकार अश्विनीकुमारों सहित अन्य देवों को भी दकर उन्हें भी संपन्न होने दें। हम सब आपकी स्तुति करते हैं!"

हां। हम भी आपकी स्तुति करते हैं, देवराज! हम आपके सेवक है। आपकी प्रजा हैं। हमें भी सोमपान का अधिकार दें।" दोनों अश्विनीकुमार

समवेत स्वर में इंद्र की वंदना करने लगे।

इंद्र प्रसन्न हो गए। उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर सोमरस से भरा पत्र उठा लिया और अश्विनीकुमारों की ओर बढ़कर बोले, ''लो देववैद्यो! तुम भी मेरे साथ सोमरस का पान करोगे। पी दस्र, तू भी पी नासत्य! आज से तुम दोनों भी मेरे साथ यज्ञ-भाग ग्रहण किया करोगे।''

''देवराज इंद्र की जय!'' सबने एक स्वर में जयघोष किया।

अश्विनीकुमारों सहित इंद्र ने च्यवन और सुकन्या को आशीर्वाद दिया और अपने हिरण्यमय रथ में बैठकर घूमते हुए स्वर्ग चले गए।

# घोषा का कायाकल्प

महर्षि कक्षीवत का विशाल आश्रम। चारों ओर घने वृक्षों की पंक्तियां, हरित वृक्षों पर चढ़ी लताएं। पगडंडियों के दोनों ओर सुगंधित पुष्पों से लदे पौधे। शीतल, मंद, सुगंधित पवन के साथ लहराती तितलियां और मदमस्त भौंरे। विशाल यज्ञ-वेदी से उठता सुगंधित यज्ञ-धूम्र। उसके पास ही बने चार-पांच पर्ण-कुटीर। गाय के गोबर से लिपी पवित्र भूमि। स्थान-स्थान पर रखे कुशासन। खूटियों पर टंगे वल्कल वस्त्र। एक ओर रखे दंड, खड़ाऊं और जल से भरे बासन।

इस सारी साज-सज्जा में ऋषि कक्षीवत की पुत्री घोषा का हाथ रहा है। उसने अपने हाथों से हरित वृक्षों-लताओं को जल से सींचा है। उनकी नुलाई, गुड़ाई, छंटाई की है। फूलों पर मंडराती रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे-पीछे भागी है। घंटों बैठी रहकर भंवरों का राग सुना है। झील से वर्षों तक नाल समेत नीलकमल तोड़कर लाई है और पिता को भेंट किए हैं। पर्ण-कुटीर को अपने हाथों से लीपा है। कुशासन बिछाए हैं। आश्रम की चिड़ियों के संग चहकी है। मोरों के संग नृत्य किया है। वह सदा सारे आश्रमवासियों की प्रिय रही है।

किंतु ये सब करते-करते युवा कन्या घोषा आज साठ वर्ष की वृद्धा हो गई है। उसके साथ किसी ने विवाह नहीं किया। वह एक न्यग्रोध की छाया में जड़ प्रस्तर-प्रतिमा-सी अचल बैठी है। श्वेत केश, चेहरे पर झुर्रियां, कांतिहीन, व्याधि-ग्रस्त देह। वास्तव में युवा काल में ही उसके शरीर को व्याधि ने घेर लिया था। शरीर का आकर्षण समाप्त हो गया था। उसकी हंसिनी-सी चाल धीरे-धीरे मंद पड़ती गई थी। पुरुष उसके व्याधि-ग्रस्त शरीर को देखकर मुंह फेर लेते थे। बचपन में आश्रमवासी उसे फुदकती चिड़िया कहकर बुलाते थे, अपने पास बिठाकर

स्नेहयुक्त मीठी-मीठी दुलार-भरी बातें करते थे। वे भी अब उसके प्रति उदासीन हो गए थे।

घोषा को लगता जैसे तितलियों और भौंरों ने भी उससे मुंह फेर लिया है। अब पुष्प भी अपनी गंध उससे चुरा रहे हैं। शीतल पवन उससे बचकर कुछ दूरी से निकल जाती है। मृग अपनी मृगी को उसकी दृष्टि से बचाकर दूसरी ओर ले जाते हैं। मयूरी और मयूर का जोड़ा उसके निकट नहीं आता जैसे उसकी नजर लग जाएगी। उसे लगता जैसे उसको देखकर पुष्प मुरझा जाते हैं। उसकी उपस्थिति से ही आश्रम में जैसे पतझड़ आ जाता है। वह स्वयं ही पतझड़ हो गई थी—पूर्ण रूप से हीन भावना से ग्रस्त। रोगी शरीर ने उसके मन को भी रोगी कर दिया था।

प्रतिदिन सूर्योदय होता। प्राची में उषा फूटती। आकाश और धरती उसकी लालिमा से भर जाते। किंतु घोषा के जीवन में कभी प्रभात नहीं होता उसका सूर्य जैसे पश्चिम के आकाश में जाकर स्थायी रूप से अटक गया था और वह रात्रि की ओर बढ़ रहा था। उसका जीवन कुंआरा ही रह गया। पति-पुत्र विहीन। नारी-सुलभ लज्जा ने कभी आंखों में प्रवेश नहीं किया। कभी पुरुष-सुख का अनुभव नहीं हुआ। कभी शरीर रोमांचित नहीं हुआ। कभी कोई लहर उठी भी तो वहीं दब गई जैसे जंगल में पड़ी कोई अंगारी स्वयं ही पड़ी-पड़ी राख हो जाती है। उसके जीवन को घोर अंधकार ने घेर लिया था।

किंतु आशा बड़ी बलवती होती है। दब जाती है पर मिटती नहीं। गहन अंधकार में जुगनू-सी चमकती है। रात्रिकालीन काली घटाओं के बीच से आशा कभी-कभी अर्द्धचंद्र-सी झलक उठती। पिंजरे में शुभ्र कपोत-सी पंख फड़फड़ाती आशा मरना नहीं चाहती, जीना चाहती है।

घोषा की आशा ने भी करवट ली—क्या मैं ऐसे ही मर जाऊंगी? फलविहीन? क्या भाग्य ही सब कुछ है? क्या कर्म कुछ नहीं? क्या कर्म से भाग्य बदला नहीं जा सकता? क्या किसी का भाग्य कभी बदलता नहीं है। हां बदलता है। स्वयं उसके पिता कक्षीवत पर भी देवों की कृपा हुई है। वे भी तो कभी निर्धन और निःसहाय थे। देवताओं के

महान वैद्य अश्विनीकुमारों ने उनको दीर्घायु, आरोग्य और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान किया था। भला देववैद्य क्या नहीं कर सकते? वे जिस पर रीझ जाएं उसे सब कुछ दे सकते हैं। उनके हाथों में चमत्कार है। उनकी कृपा असीम है। मुझे उनको प्रसन्न करना चाहिए। उनकी स्तुति करनी चाहिए। अपने जीवन का रिक्त भिक्षा-पात्र उनके सामने रखना चाहिए। बिना मांगे उन्हें क्या पता, मुझे क्या चाहिए! किसी से कुछ प्राप्त करने के लिए झुकना तो पड़ता ही है। रोना तो पड़ता ही है। प्रार्थना, उपासना, स्तुति व्यर्थ नहीं जाती। अश्विनीकुमार समर्थ देव हैं। दाता हैं। मैं उनकी स्तुति करूंगी। उनका अपने स्तोत्रों से स्तवन करूंगी। मैं भी उनकी कृपापात्र बनूंगी।

घोषा जैसे अंदर ही अंदर जीवन-आशा से भर गई। एक प्रकाश-किरण फूटी। उसने कर्म करने का दृढ़ निश्चय लिया। उसी ओर प्लाक्ष तरु की घनी छाया के नीचे बैठकर वह, आंखें बंद करके, ध्यानमग्न हो गई। उसने युगल अश्विनीकुमारों की छवि को मन में बसाया और गहरी समाधि में डूब गई।

देह की सुध-बुध बिसर गई। रात-दिन गुजरने लगे। सूरज पूर्व से निकलता और पश्चिम में डूब जाता। आंधी आती, वर्षा आती और गुजर जाती। बाहर अंधेरा छा जाता, किंतु अंत में प्रकाश विद्यमान रहता। अब तो वह थी और मन में बसे देव अश्विनीकुमार थे। उनके प्रति मन श्रद्धा से भरता जाता। आस्था नित्य अधिक और अधिक बलवती होती जाती।

और...

अकस्मात् एक प्रातः...

घोषा के मुख से सूक्त प्रस्फुटित होने लगे। उसे मंत्रों का दर्शन हुआ। वह अश्विनीकुमारों का स्तवन करने लगी—

हे अश्विनीकुमारो! तुम्हारा रासभयुक्त रथ सर्वत्र गमनशील है। यजमान रात-दिन आपके रथ का आह्वान करते हैं। जिस प्रकार पिता का स्मरणकर मन प्रसन्न होता है उसी प्रकार आपके रथ का स्मरणकर मन प्रसन्न होता है। उसी प्रकार आपके रथ का स्मरणकर हम सुखी होते हैं

"हे अश्विनीकुमारो! ऋभुओं ने आपके निमित्त रथ प्रेषित किया था। वह रथ प्रकट हुआ। उस रथ के प्रकट होने पर आकाश-कन्या उषा उदित हुई। उससे सूर्यदेव की आश्रिता रात्रि और दिन जन्म लेते हैं। आप कृपा कर उसी वेगशाली रथ पर आरूढ़ होकर आइए। उसी रथ पर आरूढ़ होकर अन्य पर्वतीय पथ पर गमन कीजिए।

"हे अश्विन्! आप अपना समय कहां व्यतीत करते हैं? रात और दिन में आप कहां विचरण करते हैं? श्रेष्ठ यज्ञ में आपको आदर के साथ कौन आहूत करता है?

"हे नासत्य! हमारी वाणी मधुर हो। हमारे सभी कार्य पूर्ण हों। हमें सुमति प्रदान कीजिए। हमें ऐश्वर्यशाली और कीर्तिमान बनाइए। जिस प्रकार सोम का मधुर रस स्नेह उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यजमानों के प्रति स्नेह का सृजन कीजिए।

"हे दस्र! आप राजा पुरुमित्र की पुत्री शुंधव को अपने रथ पर ले गए थे। आपने उसका शुभ विवाह विमद के संग कराया था। गर्भिणी वध्रिमती ने आपका आह्वान किया था। आपने उसका सुखपूर्वक प्रसव कराया था।

"हे नासत्य! वृद्ध स्तोता कलि को आपने पुनर्जीवन दिया। और वंदन को कूप से बाहर निकाला था।

"हे देववैद्य! आपने विश्पला को लोहे का पांव लगाया था। उसे अपने पांव पर चलने योग्य बनाया। शत्रुओं ने रेभ को मरणासन्न समझकर एक गुफा में फेंक दिया था। आपने उसको स्वस्थ्य किया। महर्षि अत्रि को सात बंधनों में बांधकर अग्नि में डाल दिया गया। आपने उस अग्निकुंड को भी शीतल कर दिया था।

"हे अश्विनी! आपने वृद्धा शयु नामक गाय को पुनः पयस्विनी बनाया। वृकमुख वर्तिका पक्षी का उद्धार किया।"

"हे अश्विनद्वय! आपने राजा पेदु को निन्यानबे अश्वों के साथ एक श्वेत अश्व भी दिया था, जिसके देखने मात्र से ही शत्रु सेना भाग जाती थी।

"हे अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार प्रातःकाल राजाओं का यशोगान

करके उन्हें जगाया जाता है, उसी प्रकार प्रातःकाल आपके निमित्त स्तवन किया जाता है। मङ्गभाग-प्राप्ति निमित्त आप किसके घरों में जाते हैं?"

वृद्धा घोषा ने अश्विनीकुमारों की स्तुति की। उनका ध्यान किया। उन्हें अपने हृदय में स्थान दिया। घोषा को अश्विनीद्वय के साक्षात् दर्शन हुए

घोषा तुम्हारा स्तवन मार्मिक है। हम तुमसे प्रसन्न हैं।" अश्विनीकुमारों ने प्रकट होकर सस्नेह कहा।

घोषा दोनों अश्विनीकुमारों के चरणों में दंडवत् गिर गई। अपने जर्जर हाथों से घोषा ने उनके पैरों को जोर से पकड़ लिया।

शुभे! बोलो! हम तुम्हारा क्या उपकार कर सकते हैं?"

अश्विनीकुमारों को उसकी रोगग्रस्त जरायुक्त, क्षीण काया पर दया आई

घोषा बोली, "हे महात्मन्! आप पंगु और पतितों के आश्रयदाता है आप बलहीनों के बल, नेत्रहीनों के नेत्र और रोगियों के महान् चिकित्सक हैं!"

हे तपस्विनी! बोलो, तुम्हारी क्या कामना है?"

हे देववैद्य! जैसे कोई पुरातन जर्जर रथ का जीर्णोद्धार करता है, उसी प्रकार ऋषि च्यवन की जर्जर काया को आपने स्वस्थ कर युवा बना दिया था।" घोषा ने उनके चरणों को और जोर से पकड़ लिया।

हे देवी, कहो, हम तुम्हारी किस कामना की पूर्ति कर सकते हैं? अश्विनीकुमारों ने सस्नेह कहा।

घोषा ने उनके चरणों पर अपना झुर्रियों-भरा मस्तक रगड़ते हुए कहा यह अभागिन आपका सर्वत्र गुणगान करती, विचरण करती रही है आपका ही चिंतन-मनन करती रही है। आपके ही पराक्रमों की प्रशंसा करती रही है। आप सत्यस्वरूप हैं। मैं आपकी शरण में आई हूं।

हे देवो, आपने मेरा स्तवन स्वीकार कर मुझ पर कृपा की है। मैं अत्यंत दीन, दुःखी अबला हूं। अज्ञानी हूं। मेरा कोई भाई नहीं है, कोई कुटुम्बी नहीं है। मैं पतिसुख से भी वंचित हूं। पति हमा प्राप्त होने वाले

सुख स मैं अनभिज्ञ हूं। मेरा उद्धार कीजिए, देव!'' रोती–रोती घोषा पुनः उनके चरणों में लुढ़क गई।

अश्विनीकुमार दयार्द्र हो गए। घोषा की दयनीय दशा देखकर उनके नेत्रों म करुणा भर आई। वे बोले, ''तुम्हें पति की प्राप्ति होगी, घोषा!''

बुझते दीपक में जैसे घी डाल दिया गया हो। घोषा की जड़ काया म जैसे पुनः रक्त का संचार होने लगा हो। अश्विनीकुमारों के ये शब्द उसके कानों में पड़े तो लगा जैसे मृत शरीर में किसी ने अमृत डाल दिया हो।

भगवन्!'' घोषा सलज्ज स्वर में बोली, ''मुझे वरदान दें कि मैं स्वस्थ हो जाऊं, युवा हो जाऊं, और आपकी कृपा से एक बलशाली और अनुरागी पति का घर देख सकूं।''

हां, घोषे! तुम्हें यह सब कुछ अवश्य मिलेगा। तुम युवती होओगी, पतझड़ के पत्तों की तरह तुम्हारी यह जर्जर देह नष्ट हो जाएगी। और नवकोपलों की तरह तुम्हें युवा देह प्राप्त होगी। तुम सुंदरी हो जाओगी।''

और देखते ही देखते वृद्ध घोषा एक स्वस्थ, कमनीय काया वाली युवती के रूप में प्रकट हो गई। उसकी झुर्रियां मिट गईं। श्वेत केश चिकने काले हो गए। शरीर में व्याधि जैसे कभी थी ही नहीं! सर्वांग-सुंदरी हो गई वह।

अश्विनीकुमारों की कृपा से एक स्वस्थ-सुंदर पति ने घोषा का वरण किया। वह सौभाग्यवती हो गई।

घोषा ने अश्विनीकुमारों की चरणरज अपने मस्तक से लगाई। पुनः उनका स्तवन किया—

आपका दर्शन सदैव शुभ है। आप सर्वमंगलकारक हैं...''

मंत्र-द्रष्टा घोषा, तुम्हारा कल्याण हो!'' शुभ आशीष देकर अश्विनीकुमार अंतर्धान हो गए।

# ऋषि दध्यंच और मधु-विद्या

स्वराज इंद्र का रथ आकाश-मार्ग से अपनी भव्य पुरी अमरावती की ओर तीव्र गति से उड़ा जा रहा था। रथ के नीचे से कितने ही वन्य प्रांत, पर्वत, नदियां तथा अन्य क्षेत्र जैसे पीछे भागते जा रहे थे।

इंद्र के नासापुटों में अकस्मात् एक दिव्य सुगंध भर गई। उनका रोम रोम महकने लगा। मन प्रफुल्लित हो गया। उन्होंने रथ की गति धीमा की। उन्हें लगा जैसे उनके रथ की गति से भी तीव्र दौड़ते हुए उनके मन को कुछ विराम मिल रहा है। उन्होंने रथ को नीचे धरती पर उतार लिया।

हरे-भरे पेड़ों से भरा, दूर तक फैला एक आश्रम। घने पेड़ों और लताओं से छन-छनकर बाहर आता सुगंधित यज्ञ-धूम। और उसके साथ ही आती वेदमंत्रों की सस्वर, लय-बद्ध मंद-मंद ध्वनि। सुगंधित यज्ञ-धूम और मंत्र-ध्वनि ने सारे आकाश को आप्लावित कर दिया था। देवराज सूत्र आबद्ध से आश्रम की ओर चले आए। भीतर देखा—

यज्ञ-वेदी पर बैठे महर्षि दध्यंच। यज्ञशाला में लगभग पचास ऋषिकुमार एक ही लय में सस्वर मंत्रोच्चार करते हुए जैसे वीणा से स्वतः कोई राग फूट रहा हो। आकाशोन्मुख लपलपाती अग्नि-ज्वाला में स्वाहा के साथ ही घृत, धूप, तथा हविष्यान्न डालते हुए सभी तल्लीन थे—देवों का आह्वान करते हुए।

इंद्र चकित-से खड़े एकटक यह दृश्य देखते रहे। मन का आवेग थम गया। परम शांति की अनुभूति हुई। अपनी वैभवशाली अमरावती भी उन्हें फीकी लगने लगी।

दध्यंच ने अपने पात्र में और हविष्यान्न लेने के लिए ज्योंही आगे हाथ बढ़ाया उनकी दृष्टि भी सामने उठी।

सुख से मैं अनभिज्ञ हूं। मेरा उद्धार कीजिए, देव!'' रोती-रोती घोषा पुनः उनके चरणों में लुढ़क गई।

अश्विनीकुमार दयार्द्र हो गए। घोषा की दयनीय दशा देखकर उनके नेत्रों में करुणा भर आई। वे बोले, ''तुम्हें पति की प्राप्ति होगी, घोषा!''

*बुझते दीपक में जैसे घी डाल दिया गया हो।* घोषा की जड़ काया में जैसे पुनः रक्त का संचार होने लगा हो। अश्विनीकुमारों के ये शब्द उसके कानों में पड़े तो लगा जैसे मृत शरीर में किसी ने अमृत डाल दिया हो।

''भगवन्!'' घोषा सलज्ज स्वर में बोली, ''मुझे वरदान दें कि मैं स्वस्थ हो जाऊं, युवा हो जाऊं, और आपकी कृपा से एक बलशाली और अनुरागी पति का घर देख सकूं।''

''हां, घोषे! *तुम्हें यह सब कुछ अवश्य मिलेगा।* तुम युवती होओगी। पतझड़ के पत्तों की तरह तुम्हारी यह जर्जर देह नष्ट हो जाएगी। और नवकोंपलों की तरह तुम्हें युवा देह प्राप्त होगी। तुम सुंदरी हो जाओगी।''

और देखते ही देखते वृद्ध घोषा एक स्वस्थ, कमनीय काया वाली युवती के रूप में प्रकट हो गई। उसकी झुर्रियां मिट गईं। श्वेत केश चिकने, काले हो गए। शरीर में व्याधि जैसे कभी थी ही नहीं! सर्वांग-सुंदरी हो गई वह।

अश्विनीकुमारों की कृपा से एक स्वस्थ-सुंदर पति ने घोषा का वरण किया। वह सौभाग्यवती हो गई।

घोषा ने अश्विनीकुमारों की चरणरज अपने मस्तक से लगाई। पुनः उनका स्तवन किया—

''*आपका दर्शन सदैव शुभ है। आप सर्वमंगलकारक हैं...*''

''मंत्र-द्रष्टा घोषा, तुम्हारा कल्याण हो!'' शुभ आशीष देकर अश्विनीकुमार अंतर्धान हो गए।

# ऋषि दध्यंच और मधु-विद्या

देवराज इंद्र का रथ आकाश-मार्ग से अपनी भव्य पुरी अमरावती की ओर तीव्र गति से उड़ा जा रहा था। रथ के नीचे से कितने ही वन्य प्रांत, पर्वत, नदियां तथा अन्य क्षेत्र जैसे पीछे भागते जा रहे थे।

इंद्र के नासापुटों में अकस्मात् एक दिव्य सुगंध भर गई। उनका रोम रोम महकने लगा। मन प्रफुल्लित हो गया। उन्होंने रथ की गति थामा को। उन्हें लगा जैसे उनके रथ की गति से भी तीव्र दौड़ते हुए उनके मन को कुछ विराम मिल रहा है। उन्होंने रथ को नीचे धरती पर उतार लिया।

हरे-भरे पेड़ों से भरा, दूर तक फैला एक आश्रम। घने पेड़ों और लताओं से छन-छनकर बाहर आता सुगंधित यज्ञ-धूम। और उसके साथ ही आती वेदमंत्रों की सस्वर, लय-बद्ध मंद-मंद ध्वनि। सुगंधित यज्ञ-धूम और मंत्र-ध्वनि ने सारे आकाश को आप्लावित कर दिया था। देवराज सूत्र आबद्ध से आश्रम की ओर चले आए। भीतर देखा—

यज्ञ-वेदी पर बैठे महर्षि दध्यंच। यज्ञशाला में लगभग पचास ऋषिकुमार एक ही लय में सस्वर मंत्रोच्चार करते हुए जैसे वीणा से स्वतः कोई राग फूट रहा हो। आकाशोन्मुख लपलपाती अग्नि-ज्वाला में स्वाहा के साथ ही घृत, धूप, तथा हविष्यान्न डालते हुए सभी तल्लीन थे— देवों का आह्वान करते हुए।

इंद्र चकित-से खड़े एकटक यह दृश्य देखते रहे। मन का आवेग थम गया। परम शांति की अनुभूति हुई। अपनी वैभवशाली अमरावती भी उन्हें फीकी लगने लगी।

दध्यंच ने अपने पात्र में और हविष्यान्न लेने के लिए ज्योंही आगे हाथ बढ़ाया उनकी दृष्टि भी सामने उठी।

आश्चर्य!

यह क्या?

सामने साक्षात् देवराज इंद्र खड़े हैं!

मंत्रों के द्वारा जिनका आह्वान किया जा रहा था, वही देवराज इंद्र स्वयं सामने प्रकट हैं—सशरीर! प्रत्यक्ष!

अब तक ऋषि ने केवल सुना था कि भाव से आह्वान करने से देव साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। आज देख भी लिया।

मंत्रोच्चार थम-सा गया।

महर्षि उठे।

देवराज को प्रणिपात किया। किंकर्तव्यविमूढ़-से उनके जाज्वल्यमान चेहरे को एकटक देखते रहे—सिर पर हीरकयुक्त मुकुट। गले में झूलती मणि-माणिक्य की दिव्य मालाएं। कंधों पर दमकता उत्तरीय। कानों में दिव्य मुक्ता-कुंडल। कटि में स्वर्ण-किंकिणी। और सुदृढ़ भुजाओं में कठोर वज्र।

इनके साथ खड़ा रहूं...या इन्हें यहीं बैठने को कहूं...या अपनी कुटिया में ले चलूं?—ऋषि सोचते रह गए।

तभी इंद्र बोले, ''*आप प्रसन्न हैं न, ऋषिवर?*''

''आपकी कृपा है, भगवान्!''

''मैं यह पवित्र स्थान देखकर बहुत आनंदित हुआ।''

देवराज की दृष्टि एक बार पुनः दूर तक फैली हरीतिमा पर जा टिकी। वे ऋषि के कंधे पर हाथ रखकर उन्हें आगे बढ़ाते हुए ले चले।

आश्रम में चारों ओर खड़े, आगंतुक का स्वागत-सा करते लंबे-छरहरे अशोक तरु। एक ओर भौंरों से गुंजायमान वन, बौरयुक्त आम्र-वृक्ष, फलों से लदे पनस तरुपंक्ति। छोटी-सी झील में खिले शुभ्र कमल। बाड़ पर फैली पुष्पमंडित लताएं। दूर से आती कोयल की सुमधुर कूक। पत्ते पत्ते पर विराजती-सी सुगंधित वनराजी। मंद-मंद बहता शीतल, सुगंधित समीर

इंद्र का मन हुआ, यहीं एक कुटिया बना लें। इस शांतिदायक

आश्रम का निर्माण करने वाले ऋषि को कुछ तो अपनी ओर से देकर जाए

बोले, "आप सौभाग्यशाली हैं, ऋषिवर!"

आपकी कृपा है, भगवन्!"

आप परमसुखी हैं।"

आपकी कृपा है, भगवन्।"

मेरा मन आपको कुछ देने को हो रहा है।"

परमसुखी को और क्या चाहिए, भगवन्!"

आप परोपकारी हैं। औरों के कल्याण के लिए ही कुछ मांग लें

जो कुछ भी यहां है, वह सभी के लिए है, भगवन्।"

सबके लिए कुछ और भी ले लो, ऋषि!"

क्या परहित भिक्षा मांगूं?"

भिक्षा नहीं, वरदान!"

किंतु वरदान तो दिया जाता है।"

रुचि अनुसार मांगा भी जाता है।" इंद्र ने प्रसन्न स्वर में कहा, संकोच न करो, ऋषि! आज मैं परम प्रसन्न हूं। जो भी इच्छा हो, मांग लो

ऋषि चुप रहे।

कुछ तो कहो, ऋषि।"

और ऋषि ने आंख उठाई। बोले—

देना ही चाहते हैं तो हे मघवा इंद्र! मुझे मधु-विद्या दीजिए।"

क्या कहा? क्या कहा, ऋषि दध्यंच?"

हां अरमेंद्र! मुझ पर मधु-रहस्य प्रकट करें। मुझे अमृत चाहिए—कभी किसी आपत्कालीन आवश्यकता के लिए।"

ऋषि की वाणी में दृढ़ता थी।

इंद्र चुप रहे।

कृपा करें, देव। वरदान रूप में मुझे मधु-निर्माण का ज्ञान दें।"

हां दूंगा ऋषि। अवश्य दूंगा। किंतु सशर्त।"

"वरदान तो सशर्त नहीं होना चाहिए, भगवन्! किंतु आप शर्त कहें, मुझे स्वीकार है।"

"यह रहस्य मेरे अतिरिक्त और किसी को भी ज्ञात नहीं है। इस धरती पर तो किसी को भी नहीं। अतः यदि तुम मुझसे प्राप्त रहस्य को अपने मुख से किसी और के सामने प्रकट करोगे तो स्वतः ही तुम्हारा शिरोच्छेद हो जाएगा!" देवेंद्र जैसे गरजकर बोले।

"मुझे स्वीकार है, भगवन्। अब कृपा करें। मुझे मधु-विद्या दें।" कहकर बद्धांजलि, विनीत ऋषि इंद्र के सामने शिष्यवत् बैठ गए। उन्होंने अपनी सारी चेतना को विद्या-प्राप्ति हेतु एकाग्र कर लिया।

देवराज इंद्र मंत्र देने लगे—कभी-कभी धीमे, कभी सीत्कार और कभी गर्जन के साथ और कभी केवल हाथों और आंखों के संकेत-संचालन के सहारे।

विद्या पूर्ण हुई।

ऋषि दध्यंच कृत्यकृत्य हुए। अंतस् में एक ज्वाला-सी फूटी।

धरती पर मस्तक टिकाकर देवराज गुरु को प्रणिपात किया। आभार-प्रदर्शन किया।

इंद्र बिना कुछ बोले आश्रम से बाहर चले गए।

महर्षि अपनी कुटिया में आकर आनंदातिरेक में तृणशय्या पर विश्राम करने लगे।

दूसरे दिन।

नियमानुसार, महर्षि दध्यंच प्रातः उसी यज्ञशाला में अपने शिष्यों के साथ मंत्रोच्चार कर यज्ञ में आहुति डाल रहे थे। अंतिम मंत्र का उच्चार करके पूर्णाहुति देकर ज्योंही वे खड़े होने को उद्यत हुए, उनकी दृष्टि आश्रम-द्वार की ओर पड़ी। उन्होंने देखा—दो दिव्य पुरुष-आकृतियां आश्रम में प्रवेश कर रही हैं। वे धीरे-धीरे यज्ञशाला की ओर ही बढ़ रही हैं।

निकट आने पर ऋषि ने यत्न करके उन्हें पहचान लिया। ध्यानावस्था में कई बार इनके दर्शन हुए थे। ये थे देवों के वैद्य—युगल भ्राता

अश्विनाकुमार!

महर्षि ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। प्रणिपात किया।

बोले, "आजकल देवगण मुझ अकिंचन पर अत्यधिक प्रसन्न हैं! आन्य दवर्वैद्य। इस आश्रम में आपका स्वागत है। आपने यहां आकर मुझ पर अनुग्रह किया है। मेरा सौभाग्य। अनुगृहीत हूं।"

किंतु आज तो हम अनुगृहीत करने नहीं, बल्कि याचक बनकर आए हैं, ऋषिवर।"

देव तो सदैव देते ही रहते हैं। इसीलिए तो देवता कहलाते हैं? फिर याचना कैसी?"

देने के लिए भी कहीं न कहीं से तो पहले लेना ही पड़ता है, ऋषिवर।"

'इस आश्रम में जो भी है वह सभी के लिए है, देव। मुझे आशीर्वाद दें और इस योग्य बनाएं कि आप जैसे प्रतापी देवों को कुछ दे सकूं।"

'आप किसी के आशीर्वाद से नहीं, बल्कि अपने शुभ कर्मों के कारण इस योग्य हैं, ऋषिवर कि हमें कुछ दे सकेंगे!"

'आदेश दें, देव!"

'याचक आदेश नहीं देते, याचना करते हैं।"

ऋषि अश्विनीकुमार की आंखों में झांकने लगे।

'हमें मधु-विद्या दें, ऋषिवर!" नासत्य ने कहा।

'हां! हमें मधु-निर्माण का ज्ञान दें, दानीप्रवर!" दस्र ने कहा।

महर्षि दध्यंच अवाक् रह गए। उनका मुख सूख गया।

'हमें ज्ञात हो गया है कि कल ही देवराज इंद्र ने आपके समक्ष यह गूढ़ रहस्य स्वयं आकर प्रकट किया है। हम चिरकाल से इसके लिए अनुसंधानरत थे। कल हम जब अपनी प्रयोगशाला में अन्वेषण में लीन थे तो अकस्मात् हमारे अंतस् में कुछ कंपन होने लगा। हम ध्यान में डूब गए तो कुछ फुसफुसाहट सुनाई देने लगी और दिखाई दिया कि देवराज इंद्र आपको मधु-विद्या दे रहे थे। यद्यपि हमें स्पष्ट कुछ सुनाई नहीं पड़ा। किंतु मधु-रहस्य के उद्घाटन के उपरांत आपकी दमकती मुखकांति ने

स्पष्ट कर दिया कि आपको मधु-विद्या प्राप्त हो गई है।

''हे ऋषिवर। इस समय हमें इंद्र ने यज्ञभाग से वंचित कर रखा है। वे हमसे रुष्ट हैं। मधु-विद्या प्राप्त होने से हमें हमारा खोया सम्मान वापस मिल जाएगा। हे दानिश्रेष्ठ, हे परोपकारी! हमारी सहायता कीजिए। हमें मधु का ज्ञान दीजिए।''

ऋषि सोच में डूब गए। अचानक उनका हाथ अपने मस्तक पर चला गया।

''हम जानते हैं, ऋषिवर कि यह मधु-ज्ञान देवराज से आपको सशर्त मिला है। किंतु आप चिंता न करें। आपको अपने इस मस्तक से विद्या देने की आवश्यकता नहीं।''

अश्विनीकुमारों की दृष्टि निकट ही हरित घास में चर रहे आश्रम के अश्व पड़ी।

उन्होंने कहा, ''हम आपका यह मस्तक काटकर सुरक्षित रख लेंगे और इस अश्व का मस्तक काटकर आपके शरीर पर लगा देंगे। मधु-विद्या के दान के पश्चात् आपका यह अश्व-मस्तक इंद्र के शाप से छिन्न हो जाएगा। तब हम फिर से आपका मानव-मस्तक लगा देंगे। इस प्रकार हम दोनों का कार्य पूरा हो जाएगा। हम पर अनुग्रह करें, ऋषिवर!'' कहकर अश्विनीकुमार ऋषि दध्यंच के चरणों में गिर गए।

''अरे! अरे! यह क्या, देवयुगल!'' ऋषि ने पीछे हटते हुए कहा, ''मैंने तो यह विद्या परोपकार के लिए ही प्राप्त की थी! अन्यथा मेरे किस काम की? मैं आपको मधु-विद्या अवश्य दूंगा। आप अपना कार्य कीजिए!''

अश्विनीकुमारों ने एक क्षण में अपने खड्ग से महर्षि का शिरोच्छेद कर दिया। साथ ही समीप ही हरित तृण चर रहे अश्व का भी सिर धड़ से विछिन्न कर उसे महर्षि के धड़ पर लगा दिया।

महर्षि ने अनुभव किया कि शिरोच्छेद हो जाने पर भी उनकी पूरी चेतना, पूरा ज्ञान पूर्ववत् ही है। बोले, ''मधु-विद्या ग्रहण करो, बंधुद्वय!''

दोनों भ्राता— नासत्य और दस्र शिष्यवत् आसन लगाकर बैठ गए। ऋषि दध्यंच अश्वमुख से ही उन्हें मधु-विद्या देने लगे। गूढ़ मंत्रों का

उच्चारण होने लगा। कल ही के सीखे मंत्र आज पुनः चैतन्य होने लगे।

मधु-विद्या पूर्ण हुई।

ज्यों ही अंतिम मंत्र पूर्ण हुआ, तीव्र गति से घूमता हुआ इंद्र का वज्र महर्षि की ग्रीवा को चीरता हुआ दूर ले गया। और वह अश्व-शिर शर्यणावृत सरोवर में जा गिरा।

अश्विनीकुमारों ने तुरंत महर्षि के सुरक्षित रखे मानव-मस्तक को शल्यक्रिया से उनके धड़ से जोड़ दिया।

महर्षि पुनः वास्तविक स्वरूप में आ गए—पूर्ण मानव शरीर। पूरी चेतना। पूरा ज्ञान। पूरा आनंद।

महर्षि का आतिथि-सत्कार कर्म पूरा हुआ।

अश्विनीकुमारों का वचन पूरा हुआ।

दोनों की कामनाएं पूर्ण हुईं।

मधु-विद्या प्राप्त करके तेजस्वी अश्विनीकुमार महर्षि दध्यंच के प्रति आभार प्रकट करके चले गए।

उपकारी ऋषि दध्यंच पुनः मंत्र-रचना में लीन हो गए।

# नाभानेदिष्ट की संपत्ति

नाभानेदिष्ट!

मनुपुत्र!

सतत गुरु–आश्रम में निवास।

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह वेदाध्ययन-रत रहते थे। पूरी निष्ठा से गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् करने में लीन रहते थे। उन्हें आश्रम से बाह्य संसार की कभी याद नहीं आती थी। यद्यपि वे राजकुमार थे महाराज मनु के पुत्र। किंतु उनकी रुचि राजकार्य में नहीं बल्कि गुरु–चरणों में रहकर वेदादि के अध्ययन-मनन करने में थी।

एक दिन।

उनके राज्य से एक शिष्य आश्रम में आया। उसने नाभानेदिष्ट को समाचार दिया कि उनके पिता मनु ने अपनी सारी संपत्ति का बंटवारा अपने पुत्रों में कर दिया है। किंतु पिता ने नाभानेदिष्ट को संपत्ति का अंशमात्र भी नहीं दिया है।

यह सुनकर नाभानेदिष्ट को झटका लगा। अकस्मात उनका ध्यान घर की ओर गया। पिता की विपुल संपत्ति उसकी आंखों के सामने तैर गई उनका मन शंका से घिर गया।

पिता ने उनके साथ ऐसा क्यों किया? क्या वे उन्हें अपना पुत्र नहीं मानते?

और फिर ज्येष्ठ भ्राताओं ने भी ऐसा क्यों होने दिया? क्या उन्हें अपने अनुज के प्रति किंचित् मात्र स्नेह नहीं रहा? पिता की संपत्ति में मेरा भी तो बराबर का अधिकार है। फिर मुझे सबने इतना तिरस्कृत किस कारण कर दिया है!

नाभानेदिष्ट दुःखी होकर अंततः गुरु की अनुमति से आश्रम त्याग–

न्‌ अपने पिता के पास पहुंचे और उनके चरणों में प्रणाम करके पूछा, पिता क्या यह सत्य है कि आपने अपनी संपत्ति में से मुझे कुछ भी नहीं दिया है?''

हां, यह सत्य है, पुत्र। मैंने तुम्हें संपत्ति का कुछ भी अंश नहीं दिया है।'' पिता मनु ने स्पष्ट उत्तर दिया।

किंतु क्यों! क्या मैं आपका पुत्र होने पर भी आपकी संपत्ति पाने का अधिकारी नहीं हूं?'' दुःखी मन से नाभानेदिष्ट ने प्रश्न किया।

तुम उस संपत्ति से भी बड़ी संपत्ति के अधिकारी हो, पुत्र। वास्तव में श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो अपनी संपत्ति स्वयं अपने ही गुणों और कर्म से अर्जित करे। और मैं तुम्हें श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेणी में ही मानता हूं। श्रेष्ठता स्वयं में ही एक संपत्ति है।'' मनु ने पुत्र को समझाते हुए कहा।

किंतु मैं तो गुरु के आश्रम में किए गए वेदाध्ययन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता। मुझे संपत्ति अर्जित करने की कला नहीं आती बड़े दीन भाव से नाभानेदिष्ट ने उत्तर दिया।

पिता मनु ने पुत्र को समझाते हुए कहा, ''जिस व्यक्ति के पास जो भी विद्या होती है, वह उसी से धनोपार्जन करता है। वेद-विद्या से ही तुम जितना चाहो, उतना धन कमा सकते हो।''

किंतु कैसे?'' पुत्र ने जिज्ञासा प्रकट की।

सुनो पुत्र! आंगिरस ऋषिगण स्वर्गफल की कामना से सत्र-याग कर रहे हैं। वे अभी केवल आरंभिक छः दिन का ही अनुष्ठान पूरा कर सके हैं आगे के अनुष्ठान को पूरा करने में वे दिग्भ्रमित हो गए हैं। उनको उसकी विधि भूल गई है, अतः वे अपनी कामना पूरी न होते देखकर बहुत दुःखी हैं। तुम उनके पास जाओ और उनका यज्ञ-अनुष्ठान पूरा करने में उनकी सहायता करो। 'इदमित्था रौद्रं गुर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यमन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरामंहनेष्ठा पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतृन्‌ (ऋक्. 10/61/62)। इस मंत्र से प्रारंभ कर अट्ठाईस मंत्रयुक्त दो सूक्तों का पाठ शस्त्र-रूप में करो। उनका सत्र-याग पूरा होगा और वे प्रसन्न होकर तुम्हें एक सहस्र गायों सहित उत्तम संपत्ति प्रदान करेंगे।''

पिता से प्रेरणा प्राप्त कर नाभानेदिष्ट सत्क्षण में तत्पर आंगिरस

ऋषियों के पास गए।

उन्होंने देखा—बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन हो रहा है। यज्ञ-धूम्र से दूर-दूर तक आकाश भरा पड़ा है। वातावरण सुगंधित हो गया है। यज्ञ-कुंड के समीप विपुल मात्रा में हविष्यान्न बिखरा पड़ा है।

ऋषिगण मंत्रोच्चार कर रहे हैं। नाभानेदिष्ट को आभास हुआ कि वे एक ही सूक्त को बार-बार गा रहे हैं। उससे आगे नहीं बढ़ रहे हैं। आहुति डालने में भी उनके हाथ कुछ रुक-रुक-से जाते हैं। उनके चेहरों पर संदेह की रेखाएं हैं। वे एक-दूसरे के मुंह की ओर देखते हैं जैसे सशंक हों। आंखों ही आंखों में वे कुछ प्रश्न पूछ रहे हों, और कहीं से उत्तर न पाकर पुनः पूर्ववत्: उसी कर्म में लग जाते हैं, किंतु जैसे एक अविश्वास के साथ—किंकर्तव्यविमूढ़-से।

नाभानेदिष्ट ने सचमुच वहां व्याप्त उसी स्थिति का अनुभव किया जो पिता मनु ने बताई थी। उन्होंने भांप लिया कि यज्ञ को विधि-सम्मत आगे बढ़ाने में आंगिरस दिग्भ्रमित हैं और उनको किसी की सहायता की आवश्यकता है।

नाभानेदिष्ट ने आंगिरस ऋषियों के निकट जाकर सादर प्रणाम किया और उन्हें अपना परिचय दिया। फिर स्वयं ही उनसे प्रश्न किया, जिसमें उत्तर भी समाहित था—

''लगता है कि स्वनामधन्य आंगिरस ऋषि सत्रीय यज्ञ कर रहे हैं।''

''हां, युवक, हम वही कर रहे हैं।'' उन्होंने उत्सुकता से हामी भरी।

नाभानेदिष्ट ने विनम्र स्वर में कहा, ''प्रतीत होता है कि विद्वान् ऋषिगण आगे के अनुष्ठान की विधि भूल गए हैं।''

''हां वत्स। ऐसा ही है।''

ऋषियों ने व्यग्र होकर कहा। उन्हें अचानक किसी सहारे की आशा बंधी।

''क्या आगे का अनुष्ठान मुझे करने की अनुमति है?''

जैसे डूबते को लकड़ी का सहारा मिल गया हो, वशरत ऋषियों के मुंह से एक साथ निकला, ''हां भद्र! अनुमति है। क्या आप सत्र-याग

का पूर्ति हेतु आगे का अनुष्ठान जानते हैं?''

हां मान्य ऋषिगण! मैं इसे पूरा कर सकता हूं।''

और अधिक समय न गवांकर पिता द्वारा बताए हुए सूक्त का नाभानेदिष्ट सस्वर पाठ करने लगे—

*"इमित्था रौद्रं गुर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यमन्तराजौ।*
*क्राणा यदस्य पितरामहनेष्ठा पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतृन्।'*

उन्होंने दो सूक्तों का पाठ शस्त्र-रूप में किया। आंगिरस ऋषि भी उनके स्वर में स्वर मिलकर मंत्रोचार करने लगे। उनके चेहरे खिल गए। जैसे बुझते दीये में घी डाल दिया गया हो।

नाभानेदिष्ट ने निश्चित अवधि के भीतर ही यज्ञ-अनुष्ठान विधिवत् पूरा कर दिया।

आंगिरस ऋषि बहुत प्रसन्न हुए। वे बार-बार नाभानेदिष्ट की ओर स्नेह और कृतज्ञता की दृष्टि से देखते रहे।

अंत में उन्होंने प्रसन्न होकर नाभानेदिष्ट को एक सहस्र गौएं दान में प्रदान कीं।

जब उस गो-संपत्ति को लेने के लिए नाभानेदिष्ट आगे बढ़े, तभी यज्ञस्थल के उत्तरी खंड से एक अत्यंत बलशाली कृष्णवर्ण पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने नाभानेदिष्ट को रोकते हुए कहा, ''तुम यह दान नहीं ले सकते युवक! इस समस्त यज्ञ-अवशिष्ट भाग का अधिकारी पुरुष मैं हूं। तुम इन गायों को यहीं छोड़कर अपने घर लौट जाओ।''

उस बलशाली कृष्णवर्ण पुरुष के समक्ष कोई नहीं बोल सका। फिर भी नाभानेदिष्ट ने साहस बटोरकर कहा, ''ये गौएं आंगिरसों ने मेरे कार्य के निमित्त मुझे प्रदान की हैं। अतः इस पर मेरा ही अधिकार है।''

वह महाकाय पुरुष बोला, ''हे ब्रह्मवेत्ता, तुम अभी युवक हो। इन गायों पर किसका अधिकार है, मेरा या तुम्हारा—इसका समाधान तुम अपने विद्वान् पिता मनु से ही पूछकर आओ। वे जो कहेंगे, वह मुझे भी स्वीकार होगा।''

नाभानेदिष्ट असमंजस में पड़ गए, किंतु वह क्या करते! वह तुरंत

अपने पिता के पास गए और उनको सारी घटना बताकर उनसे न्याय-सम्मत निर्णय देने की प्रार्थना की।

पिता मनु ने घटना का रहस्य समझकर कहा, "पुत्र! उन गायों पर उस कृष्णवर्ण पुरुष का ही अधिकार है, क्योंकि वह कोई और नहीं साक्षात् रुद्र देवता ही हैं। अतः वह संपत्ति तुम सहर्ष उन्हें ही दे आओ।"

नाभानेदिष्ट लौटकर यज्ञ-स्थल पर गए, जहां आंगिरस तथा वह पुरुष उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। नाभानेदिष्ट ने उस रुद्ररूप पुरुष को सादर प्रणाम करके कहा, "हे सर्वमान्य देव! मेरे श्रेष्ठ पिता के अनुसार भी इस गोधन पर आपका ही अधिकार है। कृपया इसे सादर स्वीकार कीजिए।"

नाभानेदिष्ट के इस सहज उत्तर और समर्पण भाव-से वह पुरुष अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने नाभानेदिष्ट को हृदय से लगा लिया और सारी गौएं तथा यज्ञ की अवशिष्ट सारी संपत्ति भी उन्हें सौंपते हुए कहा, "युवा ऋषि! तुम धन्य हो। सत्यनिष्ठ हो। त्यागी हो। मैं ये समस्त गौएं और संपत्ति अपने आशीर्वाद समेत तुम्हें प्रदान करता हूं। अपने श्रेष्ठ कर्म से तुमने इनको प्राप्त किया है। ये तुम्हारे जीवन में धन, धान्य, सुख एवं आनंद की वृद्धि करेंगी।"

कृष्णवर्ण पुरुष रूपी रुद्र यह कहकर अंतर्धान हो गए।

और नाभानेदिष्ट एक सहस्र गौओं तथा संपत्ति के साथ प्रसन्नचित्त अपने घर की ओर चल पड़े।

# अहंकारी वामदेव

वामदेव अद्भुत थे। उनको माता के गर्भ में ही आत्मानुभूति हो गई थी। किंतु इस अनुभूति के साथ जहां विनम्रता आनी चाहिए, वहां उनमें अहंकार आ गया। उन्होंने समझा— मैं सारे संसार से भिन्न प्रकार का प्राणी हूं। सृष्टि में सबसे श्रेष्ठ और विशेष हूं। अतः मुझे कुछ ऐसे विशेष कार्य करने हैं जो आज तक इस पृथ्वी पर किसी ने नहीं किए। और इसका प्रारंभ जन्म से ही करना है। मुझे जन्म भी उस परंपरागत मार्ग से नहीं लेना, जिससे सभी आते हैं, बल्कि माता का उदर विदीर्ण करके जन्म ग्रहण करना है।

वामदेव का यह विचार माता ने जान लिया। वह घबरा गई। उसका जीवन संकट में पड़ गया। उसने संकटमोचनी देवी अदिति का ध्यान किया और उनको सारी बात बताई। माता अदिति ने इंद्र का आह्वान किया।

इंद्र ने गर्भस्थ शिशु को पुकारकर कहा, "वामदेव! तुम क्या चाहते हो?"

"कुछ विशेष करना!" वामदेव ने गर्भ में से ही उत्तर दिया।

"जब बड़े हो जाओगे तो जो चाहो, करना।"

"मैं बड़ा होता नहीं, मैं तो सदैव ही बड़ा हूं।" वामदेव गर्व से बोले।

"अब तुम्हारी क्या इच्छा है?" इंद्र ने प्रश्न किया।

"मैं माता का उदर विदीर्ण करके जन्म लूंगा।" वामदेव ने कहा।

"किंतु यह तो सनातन परंपरा के विपरीत है।"

"उस परंपरा को ही तो मैं तोड़ना चाहता हूं!"

"किंतु यह तो माता का अपमान है।"

"मुझे तो अपना मान बढ़ाना है!"

"इससे तुम्हारी जननी का जीवन संकट में पड़ जाएगा।"

"मुझे तो अपने जीवन से ही मतलब है!"

"सनातन परंपरा का त्याग उचित नहीं है, वामदेव।" इंद्र ने समझाते हुए कहा।

"इंद्र! मुझे अपने सभी पूर्व जन्मों का ज्ञान है। और यह सब जानने के पश्चात् मुझे यह परंपरा रसहीन लगने लगी है। मुझे कुछ नया चाहिए।"

"तुम्हें क्या ज्ञान हो गया है, वामदेव?" इंद्र ने पूछा।

"मुझे ज्ञान है कि मैंने ही पूर्वकाल में मनु तथा सूर्य के रूप में जन्म लिया था। मैं ही पूर्वकाल का ऋषि कक्षीवत हूं। मैंने ही अर्जुन के पुत्र कुत्स की प्रशंसा की थी। मैं ही कवि उशना हूं। मैं सारे देवों के प्राकट्य को जानता हूं।"

"तुम्हारा पूर्व ज्ञान अद्भुत है, वामदेव।" इंद्र ने प्रशंसा की।

"इतना ही नहीं, इंद्र! मैं जन्मत्रयी को भी जानता हूं।"

"यह जन्मत्रयी क्या है, वामदेव? जरा हमें भी समझाओ।"

"प्राणी का प्रथम जन्म तब होता है जब पिता के शुक्राणु से माता के शोणित द्रव्य का संगम होता है। माता की योनि से जब संतान जन्म लेती है तब प्राणी का दूसरा जन्म होता है। और मृत्यु के पश्चात जब प्राणी पुन: जन्म ग्रहण करता है, वह उसका तीसरा जन्म होता है। यह पुन:-पुन: जन्म ग्रहण करना ही उसका अमरत्व है, इंद्र।"

वामदेव ने जन्मत्रयी का सिद्धांत समझाते हुए कहा।

"तुम भी उसी सनातन पारंपरिक मार्ग से जन्म ग्रहण करो, वामदेव।" इंद्र ने आग्रहपूर्वक कहा।

किंतु वामदेव ने योग-सामर्थ्य से गर्भ में ही श्येन पक्षी का रूप धारण कर लिया और माता का उदर विदीर्ण करके गर्भ-त्याग किया।

जन्म ग्रहण करते ही वामदेव को रुष्ट इंद्र ने युद्ध के लिए ललकारा।

वामदेव युद्ध के लिए सन्नद्ध हुए।

इन्द्र ने अपनी सारी शक्ति वामदेव के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग की, किंतु वामदेव विचलित नहीं हुए।

स दिन तक घोर युद्ध हुआ अंत में वामदेव ने इंद्र को परास्त कर दिया और उन्हें अपना बंदी बना लिया।

वामदेव ने देवों और ऋषियों की सभा में घोषणा की, "जो मुझे दस ह्जार गायें देगा वह इस इंद्र को छुड़ाकर ले जा सकता है।"

बंधन में पड़े इंद्र बहुत ही अपमानित अनुभव कर रहे थे। उनको घोर क्रोध आ रहा था।

जब वामदेव ने इंद्र की यह स्थिति देखी तो उनको दया आ गई। वे इन्द्र की प्रशंसा करने लगे।

"इंद्र! इस पृथ्वी पर आपसे बढ़कर कोई श्रेष्ठ नहीं है आपसे बढ़कर कोई प्रसिद्ध नहीं है। हे वृत्रहन्! इस जगत् में आप जैसा कोई दूसरा नहीं।"

इंद्र का क्रोध शांत होने लगा।

वामदेव इंद्र की प्रशंसा के पश्चात् पुनः अपना प्रभुत्व बखान करने लगे।

"मैं देवों में श्रेष्ठ हूं। सभी देव मेरी इच्छा का पालन करते हैं। मैंने ही मानव को भूमि दी है। मैंने ही मर्त्यों को वृष्टि दी है। मैंने ही नदियों के जल को बहने के लिए प्रेरणा दी है।

मैंने ही सोमपान कर शंबर के ग्यारह नगरों को नष्ट किया है। मैंने ही दिवोदास को एक सौ नगर दिए हैं और उनके यज्ञ की रक्षा की है।"

इन्द्र का क्रोध कुछ तो अपनी प्रशंसा से और कुछ वामदेव का प्रभुत्व सुनकर तिरोहित हो गया।

समय का पहिया चलता रहा।

समय-चक्र सभी तरह के मार्गों से होकर गुजरता है—सुख-दुःख, मिलन विरह, धूप-छांव, यश-अपयश। जीवन समतल ही नहीं ऊबड़-खाबड़ भी है। हरियाली ही नहीं ——— भी है।

और वामदेव के जीवन की गाड़ी अंततः मरुस्थल में आकर रुक गई

व दरिद्र हो गए।

अत्यंत दरिद्र।

देवों की कृपा उन पर बंद हो गई।

उनका सारा ज्ञान, सारा तपोबल, विलीन हो गया। उनके शुभ कार्य समाप्त हो गए।

उनके आश्रम में एकत्रित धन-धान्य भी समाप्त हो गया। फलों से लदे वृक्ष सूख गए। लताएं मुरझा गईं। पुष्प बिखर गए। कलरव करते पक्षी आश्रम त्यागकर कहीं अन्यत्र चले गए।

कुटिया का छप्पर गिरने लगा।

क्षुधा से पति-पत्नी का शरीर अस्थि-पंजर हो गया। शरीर की सारी ऊर्जा नष्ट हो गई। देह पीली पड़ गई। उदर कुंआ बन गया, आंखें गहरी खाई हो गईं। चलना भी दूभर हो गया। भोजन कैसे प्राप्त करें?

एक दिन!

ऋषि वामदेव अपनी टूटी कुटिया के सामने एक मरे हुए कुत्ते की अंतड़ियां पका रहे थे।

हाय रे! दरिद्रता! तू क्या नहीं करवा सकती!

ऊपर पेड़ की एक सूखी शाखा पर श्येन पक्षी बैठा था। उसने प्रश्न किया "अरे! ऋषिवर आप और यह मरे कुत्ते की अंतड़ियां? जिस वेदी पर आप यज्ञ करते थे उसी पर अंतड़ियां पका रहे हैं?''

हां, पका रहा हूं। तुम्हें क्या? अपना उदर तो भरना है न!''

किंतु आपका यह सदैव हरा-भरा रहने वाला आश्रम। आपका ज्ञान आपका यज्ञ-कर्म! आपका तप! आपके मंत्र। वह सब कहां गया? क्या हुआ?''

सब कुछ क्षुधा लील [illegible] [illegible] पानी में जाने ने [illegible]

आहुति से सुरभित रहता था, वहां मांस पकने की दुर्गंध फैली है। यह कौन सा धर्म है?''

यह आपद्धर्म है। क्षुधा का कोई धर्म नहीं होता। कोई जाति नहीं होती येन-केन-प्रकारेण क्षुधा शांत करना ही कर्म होता है।''

ऋषि वामदेव बोलते-बोलते जैसे रो रहे थे। उनका मन चीत्कार कर रहा था। निकट ही बैठी उनकी पत्नी का हृदय विदीर्ण हो गया था।

मुझे आप पर बहुत दया आ रही है, ऋषिवर! मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं?'' श्येन पक्षी ने कहा।

तुम तो पक्षी हो। भला मनुष्य के लिए क्या करोगे? जब ऋषियों ने देवों ने, मनुष्यों ने हमारा साथ बिलकुल ही त्याग दिया, तब तुम्हारी यह सहानुभूति ही हमारे लिए बहुत है।''

इतना कहकर ऋषि रोने लगे। उनकी दृष्टि झुक गई।

ना! ना! इतना कातर नहीं होते, ऋषिश्रेष्ठ वामदेव! अपने पूर्वज्ञान को तिरोहित मत होने दो। उठो!''

वामदेव ने अनुभव किया कि जैसे कोई उनका हाथ पकड़कर उठा रहा है।

दृष्टि उठाकर देखा—

आप! देवराज इंद्र...और वह श्येन पक्षी?''

वह मैं ही था, ऋषि!'' इंद्र ने वामदेव को सहलाते हुए कहा।

लीजिए! यह मधुर रस ग्रहण कीजिए।'' इंद्र ने पति-पत्नी दोनों को रस से भरे कटोरे दिए।

वामदेव की आंखें नम हो गईं। वे इंद्र के चरणों में गिर गए।

मैं अपने अहंकार में आपको भूल गया था, देवेंद्र! आपने मुझे इस विपन्नावस्था में भी याद किया। आपकी महत्ती कृपा है! आप सर्व-समर्थ हैं। मैं आपकी स्तुति करता हूं।''

# अभिशप्त दीर्घतमा

ऋतुराज बसंत की एक संध्या। बृहस्पति जी अपने कुटीर के सामने लघुकानन में घूम रहे थे। पाटल, रसाल आदि वृक्षों की पांतियां बसंत म झूमती हुई अपनी भीनी-भीनी गंध वातावरण में बिखेर रही थीं। लताएं अपना प्रलंब, कोमल, चिकनी बाहें फैलाकर विशाल तरुओं से आलिंगनबद्ध थीं पुष्पों पर भ्रमर टूट-टूट पड़ते थे। शीतल समीर अपनी मंथर गति से सरोवर में खिले कमल-कमलिनी को स्पर्श कर उनको एक-दूसरे के निकट आने के लिए आंदोलित कर रहा था। मोर-मोरनी एक संग नृत्य कर रहे थे। चारों ओर विभिन्न रंगों और विभिन्न सुगंध वाले पुष्प पुष्पित थे कहीं दूर कोकिल की रागिनी, शृंगार किए, नृत्य करती प्रकृति को और संगीतमय बना रही थी।

बृहस्पति का मन भीतर से गुदगुदा रहा था। वे भी जैसे खिलने को आतुर हुए जा रहे थे। पुष्प-पल्लवों का स्पर्श करते वे मंथर गति से कानन में टहल रहे थे।

तभी बाईं ओर दृष्टि पड़ी—

ममता—उनके बड़े भ्राता उतथ्य की पत्नी!

भृगुवंशी कन्या। कोमलांगी।

वह संध्या-पूजन के लिए पुष्प ले करके लौट रही थी। पवन उसके आंचल से अठखेलियां कर रहा था।

ममता का भरा-पूरा यौवन। उत्तिष्ठ उरोज। घनी काली, सुचिक्कण केशराशि [illegible] [illegible] की गोरी लंबी भुजाएं [illegible] मुख पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जैसे रक्त कमल पर [illegible] बैठा हो [illegible] [illegible] [illegible]

ने आखें उठाकर देखा। उसकी झील-सी नीली आंखें बृहस्पति को आमन्त्रण-सा देती दिखाई दीं।

'ममते!'' बृहस्पति ने उसकी पुष्ट देहयष्टि पर दृष्टि दौड़ाते हुए पुकारा।

'बृहस्पति, तुम! यहां क्या कर रहे हो? क्या आज का दर्शन-शास्त्र का अध्याय पूर्ण हो गया?''

''ममते!'' बृहस्पति ने ममता के मुख पर दृष्टि गड़ाते हुए कहा, आज तो मैं सौंदर्य-शास्त्र का अध्याय कर रहा हूं!''

''किंतु तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता ने तो तुम्हें दर्शन-शास्त्र का पाठ दिया था

''किंतु वह तो शुष्क ताड़-पत्र पर चित्रित शब्द मात्र हैं। मैं तो साक्षात् सौंदर्य की देवी रति का अध्ययन कर रहा हूं।'' बृहस्पति कामातुर ममता की ओर बढ़ने लगे।

ममता ने बृहस्पति के कुत्सित भावों को भांप लिया। वह भयभीत हिरणी-सी कांपी। और पीछे हट गई।

बृहस्पति आगे बढ़ते रहे। उन्होंने बाहें फैलाकर आमंत्रित किया—

'आओ, ममते!''

'यह क्या कर रहे हो तुम, बृहस्पति? क्या हो गया है तुम्हें? क्या ममत-ममते' पुकार रहे हो। मेरा नाम ममता है। वह तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता का प्रेम...प्रेम-संबोधन है, तुम्हारा नहीं! मैं तुम्हारी भाभी हूं।''

'हां, ममते! मेरे भ्राता की प्रिया...भाभी! आज तुम बहुत मोहक लग रही हो।'' कामपीड़ित बृहस्पति का मुख रक्तवर्ण हो गया। उनकी आखों में आदर के स्थान पर काम-पिपासा झिलमिलाने लगी। वे प्रेम-याचक बन गए। और फिर धीरे-धीरे इतने वासना-विवश हुए कि प्रेम-आतकी हो गए। अवचेतन में कुंडली मारकर बैठा कोई विषैला सर्प अपना फन उठाने लगा।

ममता मृगी-सी भयभीत हुई तेजी से पीछे हटने लगी। बृहस्पति ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया।

'मैं कामार्त हूं, ममते! मुझे रति-सुख प्रदान करो।''

''कुछ लज्जा करो, बृहस्पति...''

''तुम्हारा रूप-यौवन असहनीय है। तुम साक्षात् रति हो। मुझे रति-सुख से संतृप्त करो।'' बृहस्पति की श्वास-क्रिया तीव्रतर होने लगी। उन्होंने ममता को अपने पास में लेने के लिए खींचा।

वह झुकी और भू-लुंठित हो गई।

आंचल में समेटे सारे पुष्प भूमि पर बिखर गए।

कामातुर बृहस्पति उसके ऊपर गिर-से गए।

निकट ही वृक्ष की डाल पर बैठी बहुत-सी गौरैया घबराकर दूर भाग गईं। पुष्पों पर विश्राम करती रंग-बिरंगी तितलियां भी भयभीत हो आकाश में फुर्र से उड़ गईं। सरोवर से हंसिनी के चीखने की मर्म-भेदी वाणी सुनाई पड़ी। कोकिल का राग बंद हो गया। पवन थम गया।

बृहस्पति की आंखों में झांकती ममता उनसे कातर स्वर में याचना कर रही थी, जैसे आखेटक के बाण से बिंधी मृग-शाविका प्राणों की भिक्षा मांग रही हो।

'मेरे गर्भ में तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता की संतान है, बृहस्पति!'' ममता ने रोते हुए कहा।

'रहने दो, कोई हानि नहीं!''

अपने ज्येष्ठ भ्राता की संतान नष्ट करना अधर्म है! पाप है!''

सौंदर्य प्रकृति का वरदान है...प्रत्येक रमणी भोग्या है...संतान भोग का फल है। फल स्थायी नहीं होता। आता-जाता रहता है। वृक्षारोहण में फल बाधक नहीं है!''

बृहस्पति ने राहु की भांति ममता को ग्रस लिया।

ममता अचेत हो गई।

सहसा ममता के गर्भ से आवाज आई।

बृहस्पति! मैं यहां पहले से ही संभूत हूं!''

पड़े रहो।''

जीव-विकृति वर्जित है!''

प्रकृति है तो विकृति भी है।''

मैं विरोध करूंगा।''

तुम्हारा अस्तित्व नगण्य है।
बाधा डालने के लिए इतना ही बहुत है!''

बृहस्पति का ध्यान बंटता गया। वह शिथिल होने लगा।

गर्भ की बाधा बढ़ती गई।

बृहस्पति की कामाग्नि तीव्र क्रोधाग्नि में परिवर्तित हो गई।

उन्होंने गर्भस्थ शिशु को शाप दे दिया, ''तूने हमारी रतिक्रिया को देखने का पापकर्म किया है! अब तू कभी नहीं देख पाएगा। तू जन्मांध ही जन्म लेगा। तू दीर्घतमस् होगा! यह मेरा शाप है!''

ममता की चेतना लौटी। अंतिम शब्द उसके कानों में पड़े। वह तड़प उठी। अपने निर्दोष गर्भस्थ शिशु की दुर्दशा की कल्पना मात्र से वह चीत्कार कर उठी।

उसने बृहस्पति के पैर पकड़ लिए और शाप निरस्त करने की भिक्षा मांगने लगी।

किंतु कठोर, अशमित वासना से क्षुब्ध बृहस्पति झटका देकर चले गए।

और

कुछ मास पश्चात ममता ने एक शिशु को जन्म दिया—सुंदर। बलिष्ठ, किंतु जन्मांध!

दीर्घतमा!

बालक बड़ा हो गया। उसके जीवन का बाह्य अंधकार बढ़ता गया। किंतु अंतर्ज्योति प्रकाशित होती गई। बाहर अंधतमस् के घने मेघ घिरते गए भीतर ज्ञान-सूर्य की रश्मियां चमकती रहीं।

दीर्घतमा ने मंत्रों के दर्शन किए। मंत्रों का सृजन किया। मंत्रों द्वारा सूर्य की स्तुति की। इंद्र की उपासना की। अग्निदेव को प्रसन्न किया। मित्रावरुण की आराधना की। अश्विनीकुमारों का स्तवन किया।

तब देवों की कृपा की वर्षा उस पर हुई—दीर्घतमा अपने आनंद में लीन हो गए। विरक्त—मुक्त, शुद्ध, बुद्ध।

# कक्षीवान की दस पत्नियां

कक्षीवान—दीर्घतमस् का पुत्र।

गुरुकुल से अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर घर लौट रहा है। लंबा मार्ग वैशाख की गरमी। धूल-धूसरित शरीर। वर्षों के पश्चात् घर आ रहा है इसलिए घर की याद सता रही है—मन करता है कि शरीर को पंख लग जाएं और पक्षी की तरह आकाश-मार्ग से उड़कर अभी अपने सगे-संबंधियों के बीच में जाकर खड़े हो जाएं। वे चारों ओर से घेर लेंगे और गुरुकुल के विषय में अनेक प्रकार के प्रश्नों की झड़ी लगा देंगे। मैं सभी का उत्तर बड़ी शालीनता से दूंगा। वे मेरी शिक्षा और ज्ञान से विस्मित हो जाएंगे। वे प्रसन्न होकर मुझे गले से लगा लेंगे...मैं गद्‌गद् हो जाऊंगा।

किंतु वह शुभ घड़ी कब आएगी? न पंख लग सकते हैं, न उड़ सकता हूं। अभी तो इन्हीं पैरों से यूं ही धीरे-धीरे चलकर जाना है।

सोचते-सोचते और चलते-चलते शरीर थक गया। गरमी भी लगी। धूल भरी पगडंडी के पास ही एक वटवृक्ष दिखाई पड़ा। घनी शीतल छाया कक्षीवान वृक्ष की छाया में लुढ़क गया।

राजा स्वनम का रथ अचानक रुक गया। उनके पार्श्व में चल रहे उनके पार्षद और परिवार के लोगों के रथ भी रुक गए। अंगरक्षकों और कुछ सैनिकों के घोड़े भी वहीं थम गए।

महाराज रथ से उतरे और एकाकी गहरी निद्रा में सो रहे कक्षीवान के निकट आकर खड़े हो गए। वे निद्रामग्न, शांत मुख युवक को निहारे जा रहे हैं। धूलि-कणों से सनी देह से भी उस युवक का पौरुष दमक रहा था। उसकी निश्छल, निष्पाप मुख-कांति प्रकाशमान थी। ब्रह्मचर्य का तेज अंग-अंग से टपक रहा था। युवक कक्षीवान ने महाराज स्वनम को आकर्षित किया था।

महारानी और उनकी दस युवा कन्याएं भी महाराज के पास आकर खड़ी हो गईं। वे भी महाराज का अनुसरण करके उस युवक की टकटकी बांधे देखे जा रही थीं।

लोगों की खुसर-फुसर, रथ से उतरने चढ़ने की आवाजें और घोड़ों की हिनहिनाहट से युवक कक्षीवान की निद्रा में विघ्न पड़ा। उसकी आंखें खुल गईं। उसने एक सहज अंगड़ाई ली और उठकर बैठ गया। सामने देखा सिर पर मुकुट रखे कोई राजा सामने खड़ा है। साथ में राजसी परिवार सैनिक, रथ, घोड़े आदि।

कक्षीवान अकस्मात् खड़ा हो गया और विस्मित-सा हो आंखें, फाड़कर उन्हें देखने लगा।

तुम कौन हो युवक? लगता है, लंबी पैदल यात्रा ने तुम्हें थका दिया है?'' राजा स्वनम ने युवक से पूछा।

मेरा नाम कक्षीवान है। मैं ऋषि दीर्घतमस् का पुत्र हूं। अपनी शिक्षा समाप्त कर गुरु-आश्रम से पितृगृह को जा रहा हूं। यहां थककर सो गया था। आप...आप कोई राजा मालूम होते हैं। मेरा प्रणाम स्वीकार कीजए!'' कक्षीवान ने महाराज को करबद्ध प्रणाम किया।

हां, कक्षीवान! मैं सिंधुतटीय प्रदेश का राजा हूं। मुझे स्वनम भावयव्य कहते हैं। ये महारानी हैं। और ये हैं हमारी दस पुत्रियां।'' महाराज स्वनम ने पीछे खड़ी उत्सुकता से कक्षीवान को निहारती युवतियों की ओर संकेत करके बताया।

कक्षीवान ने महारानी को भी करबद्ध प्रणाम किया। महारानी ने आशीर्वाद दिया।

महाराज कुछ देर विचारमग्न रहे। फिर बोले, ''ऋषि! आप ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करने के पश्चात एक सुयोग्य ब्राह्मण बनकर अपने गृह को लौट रहे हैं। आप निश्चय ही जानते होंगे कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता है। आपका इस विषय में क्या विचार है?''

कक्षीवान कुछ संकोचपूर्वक बोला, ''यह परंपरा तो हमारे पूर्वजों की निर्धारित की हुई है, महाराज। हमें तो उसका पालन करना है। वैसे

"तो यह एक प्राकृतिक नियम है। उचित समय आने पर सभी को इसका पालन करना होता है।''

''तो अब उचित समय आ गया है, ऋषिकुमार।''

''कैसा उचित समय, महाराज?'' कक्षीवान ने जिज्ञासा प्रकट की।

''आपके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का समय, ऋषि! आपको अब विवाह कर लेना चाहिए।'' महाराज ने समझाते हुए कहा।

''किंतु यह तो मेरे माता-पिता का अधिकार है। अभी तो मैं गुरु गृह से स्वगृह जा रहा हूं। फिर जैसी माता-पिता की इच्छा और आदेश होगा, मैं वही करूंगा, महाराज।'' कक्षीवान कुछ और संकुचित हो गया।

महाराज बोले, ''अपना घर बसाना सबका अपना दायित्व है ऋषिकुमार। और यदि तुम यह दायित्व भी पूरा करके ही अपने घर लौटोगे तो माता-पिता को कितनी प्रसन्नता होगी!''

''मैं कुछ समझा नहीं, महाराज।''

''मैं समझाता हूं, ऋषिपुत्र। ये मेरी दस कन्याएं हैं। ये सबकी सब विवाह योग्य हैं। मैं इन्हें आपकी भार्या के रूप में अर्पित करके आपको अपना जामाता बनाना चाहता हूं।'' कहकर महाराज ऋषिपुत्र कक्षीवान की प्रतिक्रिया जानने के लिए उसकी आंखों में झांकने लगे।

कक्षीवान ने प्रथम बार महारानी के साथ खड़ी दसों राजकुमारियों की ओर देखा। सबकी सब तरुणियां एक-से बढ़कर एक थीं—युवा सुंदर आकर्षक। उनकी दृष्टि भी युवा कक्षीवान की दृष्टि में उलझ गई। उन सबकी दृष्टि में ललक थी, याचना थी, उत्सुकता थी, अभिलाषा थी।

कक्षीवान को पहली बार कुछ हुआ। अंतस्तल में मानो कुछ डगमगाया। हृदय पिघला। विपरीत लिंग की देह के प्रति एक नया आकर्षण जागा। कोमल-सा कामांकुर फूटा। अब उसकी आंखें अपने वश में नहीं रहीं। वे एक-एक कर दसों युवतियों के कुंआरे अंगों पर फिसलने लगीं। नव-स्फुटित कलियां जैसे भ्रमर का आह्वान कर रही थीं। वह अपनी सुध-बुध खो बैठा था। उसे समय, स्थान और स्वत्व का ज्ञान नहीं रहा था। इसकी तो उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

महाराज स्वनय युवक कक्षीवान की इस स्थिति से अवगत हो चुके थे। उन्होंने अपना लक्ष्य पूरा होते देख प्रसन्नता से कहा, ''हां, तो क्या

विचार है, ऋषिकुमार?''

कक्षीवान सचेत हुआ। उसकी दृष्टि लौटकर महाराज पर टिक गई।

''किंतु...''

''किंतु क्या, ऋषिपुत्र? मैं समझ गया हूं...आप आंगिरस वंश के हैं, हमारे तथा आपके गोत्र और वर्ण में भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है। हम एक-दूसरे से संबंध कर सकते हैं।''

''किंतु...'' कक्षीवान सलज्ज स्वर में बोला।

''किंतु, माता-पिता की सहमति! यही तो कक्षीवान! तुम्हारा संबंध एक राजघराने से हो रहा है। भला इसमें उनको क्या आपत्ति हो सकती है? उलटे उनको तो प्रसन्नता ही होगी। तुम शिक्षा-दीक्षा पूरी करके ही घर लौटोगे। इससे तो उनका उत्तरदायित्व सहज ही पूरा हो जाएगा। और फिर तुमको राज-संरक्षण प्राप्त होगा। इससे अधिक शुभ और क्या हो सकता है?''

कक्षीवान ने एक बार पुनः युवा कन्याओं की ओर देखा जो मुग्ध भाव से उसकी ओर ही निहारे जा रही थीं। महारानी के चेहरे पर भी एक प्रफुल्लता थी। कक्षीवान ने दृष्टि झुका ली। मौन रहा।

महाराज स्वनम को जैसे स्वीकृति मिल गई। उन्होंने वन-प्रांत में ही अपने पुरोहितों से विवाह-वेदी तैयार करवाई और वैदिक मंत्रोच्चार के बीच अपनी दसों पुत्रियों का विवाह कक्षीवान से कर दिया।

कक्षीवान अपनी दस पत्नियों के साथ पितृगृह की ओर जा रहा है—स्वर्णमंडित रथ पर आरूढ़। उसके पीछे-पीछे दस पत्नियों के दस सुंदर रथ—धन-धान्य से भरे हुए। सुंदर स्वस्थ अश्व, बकरियां, भेंड़ें, सौ वृषभ, एक हजार साठ गौएं। राजसी वैभव मार्ग को प्रकाशित और गौरवान्वित करता हुआ

वह अपने पितृगृह पहुंचा। परिजनों ने देखा—स्वर्णरथ से उतरा उन्हीं का पुत्र कक्षीवान। पीछे दस रथों से उतरीं दस सुंदरतम राजकुमारियां जो अब कक्षीवान की भार्या थीं।

सारा गांव देखने के लिए दौड़ा आया। कोलाहल मच गया। आनंद की लहरें उठने लगीं। माता-पिता ने कक्षीवान को हृदय से लगा लिया।

माँ ने दसों वधुओं को आशीष दिया और संभालकर घर में ले गई। वह उन्हें बार-बार देख रही हैं। वह कभी अपने पुत्र कक्षीवान का मुख देखती हैं—कितना छोटा-सा था जब गुरु आश्रम में पढ़ने भेजा था। फिर वह कब युवा हो गया—पता ही नहीं चला। आज भी जो वधुएं साथ न होतीं तो अभी वह बालक ही लगता!

पिता को आज पहली बार अनुभव हुआ कि गुणों की पूजा होती है; और यह कि उनका पुत्र गुणवान हो गया है। इसीलिए राज-परिवार से संबंध भी जुड़ गया है। राजा भी गुणों के सामने झुकते रहे हैं।

कक्षीवान श्रद्धावश अपने पिता के चरणों में झुक गया। फिर उसने सूक्त-उच्चार करके इंद्र का स्तवन किया—

''दानी व्यक्ति सूर्य की उदय होती किरणों के साथ दान देता है। विद्वान् लोग उस दान को ग्रहण करते हैं। उस धन से संतान, आयु, बल प्राप्त होते हैं। रक्षा होती है। उसे असंख्य अश्व, गाय, स्वर्णराशि मिलती है। इंद्र की दानियों पर कृपा होती है। वे उन्हें सामर्थ्यवान बनाते हैं। उन्हें धन से पूर्ण कर देते हैं। मैं रथारूढ़ होकर शोभन कर्मयुक्त कल्याणकारी यज्ञ के अवलोकनार्थ आ गया हूं।

''यजमान्! इंद्र को सोम निष्पन्न कर पिलाओ। उन्हें स्तवन से प्रसन्न करो। कल्याणकारी सरिताएं यज्ञ की इच्छा रखने वाले यजमान के समीप प्रवाहित होती हैं। यज्ञेच्छु व्यक्ति को चारों दिशाओं से घृत की धाराएं प्राप्त होती हैं। दानी व्यक्ति का स्वर्ग में सत्कार होता है। वे देववर्ग में माने जाते हैं। जल-स्वरूप घृत की नदियां उनके निमित्त प्रवाहित होती हैं। उनकी दक्षिणा सदैव वार्द्धक्य को प्राप्त होती है। दानियों के पास सदा ऐश्वर्य आता है। उन्हें दीर्घायु प्राप्त होती है। दानी के निकट कभी दुःख नहीं आता। उसे पाप आवृत नहीं करते। जगत् के शोक अदानी व्यक्ति को ही प्राप्त होते हैं...''

कक्षीवान ने अनेक स्तवनों से अश्विनीकुमारों को भी प्रसन्न किया। उसे उनका संरक्षण प्राप्त हुआ। उसने अपनी दसों पत्नियों के साथ सौ यज्ञ किए और सुयश प्राप्त किया।

# अपाला का परित्याग

महर्षि अत्रि का आश्रम।

सूर्यदेव अपनी पूरी लालिमा के साथ पश्चिमी अंतरिक्ष में लटके हुए थे। उसकी लालिमा ने आकाश में यत्र-तत्र चिथड़ों की तरह छिटके हुए मेघ-टुकड़ों को अनेक रंगों में रंग दिया था। केसरिया-मिश्रित आभा आश्रम में खड़ी घनी तरुपांति के पत्तों को रंगते हुए छन-छनकर भूमि को भी कहीं-कहीं से केसरिया बना रही थी।

आश्रम का वातावरण शांत। कहीं-कहीं से किसी पक्षी के अपने नीड़ में आने अथवा किसी फल के पककर स्वयं नीचे गिरने की ध्वनि से नीरवता भंग हो जाती।

एक वटवृक्ष की लंबी, सुदृढ़ टहनियों में आश्रमवासियों के वल्कल लटके हुए थे। अनेक पर्ण-कुटियां पंक्तिबद्ध शांत बैठी प्रतीत होती थीं। उनको पवित्र गोबर से लीपा गया था। लगता था जैसे सभी समाधि में उतर गई हों।

मृगों का झुंड दिन-भर चरकर और ऊधम मचाकर अब एक शिरस के तरु-तले भूमि पर शांति से पसरा हुआ था। यज्ञवेदी भी मौन थी, किंतु उससे अभी तक पतली-सी सुगंधित धूम्ररेखा सूर्य-किरणों से लाल होकर जैसे किरणों के साथ ही अंतरिक्ष में सूर्य से मिलने जा रही थी। पास ही कुशासन, समिधा, घृत, हविष्यान्न, धूप, अगरु, चंदन आदि रखे थे।

आश्रम जैसे शांति और पवित्रता की प्रतिमूर्ति था।

महर्षि अत्रि ने दाएं हाथ में अपना कमंडल और बाएं हाथ में वल्कल लिया और जलाशय की ओर नहाने चले। पगडंडी के उत्तर की ओर से वेदमंत्र-गायन की बहुत ही सुरीली ध्वनि आ रही थी। वह मंद-मंद ध्वनि कानों में मिश्री घोल रही थी। कोकिला भी उसके सामने

माँ ने दसों वधुओं को आशीष दिया और संभालकर घर में ले गई। वह उन्हें बार-बार देख रही हैं। वह कभी अपने पुत्र कक्षीवान का मुख देखती हैं— कितना छोटा-सा था जब गुरु आश्रम में पढ़ने भेजा था। फिर वह कब युवा हो गया— पता ही नहीं चला। आज भी जो वधुएं साथ न होतीं तो अभी वह बालक ही लगता।

पिता को आज पहली बार अनुभव हुआ कि गुणों की पूजा होती है; और यह कि उनका पुत्र गुणवान हो गया है। इसीलिए राज-परिवार से संबंध भी जुड़ गया है। राजा भी गुणों के सामने झुकते रहे हैं।

कक्षीवान श्रद्धावश अपने पिता के चरणों में झुक गया। फिर उसने सूक्त-उच्चार करके इंद्र का स्तवन किया—

"दानी व्यक्ति सूर्य की उदय होती किरणों के साथ दान देता है। विद्वान् लोग उस दान को ग्रहण करते हैं। उस धन से संतान, आयु, बल प्राप्त होते हैं। रक्षा होती है। उसे असंख्य अश्व, गाय, स्वर्णराशि मिलती है। इंद्र की दानियों पर कृपा होती है। वे उन्हें सामर्थ्यवान बनाते हैं। उन्हें धन से पूर्ण कर देते हैं। मैं रथारूढ़ होकर शोभन कर्मयुक्त कल्याणकारी यज्ञ के अवलोकनार्थ आ गया हूं।

"यजमान्! इंद्र को सोम निष्पन्न कर पिलाओ। उन्हें स्तवन से प्रसन्न करो। कल्याणकारी सरिताएं यज्ञ की इच्छा रखने वाले यजमान के समीप प्रवाहित होती हैं। यज्ञेच्छु व्यक्ति को चारों दिशाओं से घृत की धाराएं प्राप्त होती हैं। दानी व्यक्ति का स्वर्ग में सत्कार होता है। वे देववर्ग में माने जाते हैं। जल-स्वरूप घृत की नदियां उनके निमित्त प्रवाहित होती हैं। उनकी दक्षिणा सदैव वार्द्धक्य को प्राप्त होती है। दानियों के पास सदा ऐश्वर्य आता है। उन्हें दीर्घायु प्राप्त होती है। दानी के निकट कभी दुःख नहीं आता। उसे पाप आवृत नहीं करते। जगत् के शोक अदानी व्यक्ति को ही प्राप्त होते हैं..."

कक्षीवान ने अनेक स्तवनों से अश्विनीकुमारों को भी प्रसन्न किया। उसे उनका संरक्षण प्राप्त हुआ। उसने अपनी दसों पत्नियों के साथ सौ यज्ञ किए और सुयश प्राप्त किया।

# अपाला का परित्याग

महर्षि अत्रि का आश्रम।

सूर्यदेव अपनी पूरी लालिमा के साथ पश्चिमी अंतरिक्ष में लटके हुए थे। उसकी लालिमा ने आकाश में यत्र-तत्र चिथड़ों की तरह छिटके हुए मेघ-टुकड़ों को अनेक रंगों में रंग दिया था। केसरिया-मिश्रित आभा आश्रम में खड़ी घनी तरुपांति के पत्तों को रंगते हुए छन-छनकर भूमि को भी कहीं-कहीं से केसरिया बना रही थी।

आश्रम का वातावरण शांत। कहीं-कहीं से किसी पक्षी के अपने नीड़ में आने अथवा किसी फल के पककर स्वयं नीचे गिरने की ध्वनि से नीरवता भंग हो जाती।

एक वटवृक्ष की लंबी, सुदृढ़ टहनियों में आश्रमवासियों के वल्कल लटके हुए थे। अनेक पर्ण-कुटियां पंक्तिबद्ध शांत बैठी प्रतीत होती थीं। उनको पवित्र गोबर से लीपा गया था। लगता था जैसे सभी समाधि में उतर गई हों।

मृगों का झुंड दिन-भर चरकर और ऊधम मचाकर अब एक शिरस के तरु-तले भूमि पर शांति से पसरा हुआ था। यज्ञवेदी भी मौन थी, किंतु उससे अभी तक पतली-सी सुगंधित धूम्ररेखा सूर्य-किरणों से लाल होकर जैसे किरणों के साथ ही अंतरिक्ष में सूर्य से मिलने जा रही थी। पास ही कुशासन, समिधा, घृत, हविष्यान्न, धूप, अगरु, चंदन आदि रखे थे।

आश्रम जैसे शांति और पवित्रता की प्रतिमूर्ति था।

महर्षि अत्रि ने दाएं हाथ में अपना कमंडल और बाएं हाथ में वल्कल लिया और जलाशय की ओर नहाने चले। पगडंडी के उत्तर की ओर से वेदमंत्र-गायन की बहुत ही सुरीली ध्वनि आ रही थी। वह मंद-मंद ध्वनि कानों में मिश्री घोल रही थी। कोकिला राग इसके सामने

फीका पड़ रहा था।

महर्षि के पांव उधर मुड़ गए। देखा—न्यग्रोध वृक्ष के नीचे एक शुभ्र शिला पर बैठी अपाला नेत्र बंद किए वेदमंत्र गा रही थी। लगता था जैसे साक्षात् वेद ही स्वयं वाणी बनकर राग में फूट पड़े हों अथवा संध्या देवी आनंद में वीणा बजा रही हों।

महर्षि ने पुकारा, ''अपाला! पुत्री! तू अकेली यहां क्या कर रहा है?''

अपाला के नेत्र खुले। राग बंद हुआ जैसे वापस किसी वीणा में ही समा गया हो।

''यहां क्या कर रही है, पुत्री?''

''पिता! आपने प्रातः जो मंत्र दिए थे, उन्हीं का पाठ कर रही थी

''क्या प्रातः दिए सभी मंत्र कंठस्थ हो गए हैं, पुत्री?''

''हां। सुनाऊं?''

''वह तो मैं सुन ही रहा था। और जो पाठ कल पढ़ाया था?

''वह भी कंठस्थ है, पूज्य। और जो उसके पहले पढ़ाया था, वह भी कंठस्थ है।''

''तो क्या आज तक तूने जो पढ़ा है, वह सभी याद है?''

''हां पिता। आज तक जो आपने पढ़ाया है, वह सभी याद है। आप कहें तो अभी सुनाऊं।''

और पुत्री सुनाने लगी। शुद्ध उच्चारण। छंद-व्याकरण का उचित निर्वाह। पद-लय-समन्वित आरोह-अवरोह।

महर्षि अपनी पुत्री की प्रतिभा देखकर गद्‌गद हो गए। उन्होंने आश्रमवासियों के मुंह से अपाला की प्रतिभा की अनेक बार प्रशंसा सुनी थी।

किंतु आज तो प्रत्यक्ष ही देख लिया! वे अपनी पुत्री पर गर्व करने लगे।

''संध्या हो गई है। अपनी कुटिया में चल, पुत्री!'' कहकर महर्षि जलाशय की ओर स्नान करने चले गए।

और अपाला हरिणी-सी लता-गुल्मों के बीच कूदती-फांदती अपनी

कुटिया की ओर चली।

अपने कुटीर के सामने महर्षि अत्रि अनेक वैद्यों के साथ बैठे विचार-विमर्श में व्यस्त थे। उनके चेहरे पर चिंता की रेखाएं स्पष्ट परिलक्षित थीं। चिंता का विषय था—बालिका अपाला के शरीर में त्वक् रोग। शरीर पर श्वेत कुष्ठ के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। वैद्यों ने अनेक औषधियों का निर्माण कर बालिका को खिलाया और महीनों तक सतत रूप से लेपन भी किया, किंतु कुष्ठ के श्वेत चिह्न घटने की अपेक्षा बढ़ते ही जा रहे थे।

महर्षि याचना-भरी दृष्टि से, वैद्यों से कुछ नवीन औषधि-निर्माण की प्रार्थना कर रहे हैं। उन्हें पता था कि श्वेत चिह्न बालिका के सुंदर शरीर को कलंकित किए जा रहे हैं और इनके कारण पुत्री के विवाह में बाधा पड़ सकती है।

वैद्यों ने यद्यपि एक नई औषधि पीने के लिए और एक लेपन के लिए निर्मित की, किंतु वे स्वयं भी उसके परिणाम के विषय में आश्वस्त नहीं थे।

पिता की इस चिंता से अपाला भी भली प्रकार परिचित थी। यूं तो सभी आश्रमवासी इस रोग के विषय में जानते थे, किंतु गुरुपुत्री होने के नाते अपाला के विषय में किसी को स्पष्ट कहने का साहस नहीं था। हां, महर्षि अवश्य कभी-कभी इस चिंता का उद्घाटन अपनी पुत्री के समक्ष कर देते। तब अपाला भी चिंतित हो जाती। वह तो फिर भी कभी वेदाध्ययन में और कभी बालसुलभ क्रीड़ा में उसे भुला देती थी, किंतु महर्षि अत्रि एक क्षण भी इस चिंता से मुक्त नहीं होते थे।

इसीलिए वे मानो ज्ञान से इसकी क्षति-पूर्ति करना चाहते थे। उन्होंने पुत्री को वह सब ज्ञान दिया जो उनके पास था। अंतर्ज्ञान की वृद्धि होती गई, किंतु साथ ही अपाला के शरीर की भी वृद्धि होती गई। आयु-वृद्धि के साथ यौवन भी वृद्धि को प्राप्त होता गया। यौवन तो कभी 'सुरूप' और कुरूप को नहीं देख[illegible] [illegible] समय आ- [illegible] की तरह फू[illegible]

अपाला अब बालिका नहीं रह गई थी। वर्षा ऋतु की लता की तरह बढ़ चली थी। शरीर पल्लवित-पुष्पित होने लगा। प्रातःकाल की लालिमा की कांति उसके मुख पर छा गई। अंग-अंग से यौवन झांकने लगा। नेत्र लज्जा से झुकने लगे। उनको झील की गहराई का अनुभव होने लगा। स्तन शुभ्र हंस बनकर जलक्रीड़ा करने लगे। घनी श्याम केशराशि वर्षाकालीन श्याम मेघों की तरह घिरने लगी। उसका तरल हास्य विद्युत-सा कांपने लगा।

अपाला पूर्ण युवा हो गई। और नवविकसित यौवन ने शरीर के श्वेत कुष्ट को भी ढक-सा दिया। व्यक्ति की दृष्टि उसकी दमकती देहयष्टि पर जाती, किसी को भी उसके ये धब्बे दृश्यमान नहीं होते

एक दिन युवा ऋषि कृशाश्व महर्षि अत्रि से मिलने उनके आश्रम में आए। महर्षि आश्रम-व्यवस्था में व्यस्त थे। कृशाश्व का स्वागत किया उनकी पुत्री अपाला ने। वह वृक्षों से ताजे फल तोड़कर लाई। मधुपर्क तैयार किया। मधुवाणी के साथ मधुपर्क। और साथ-साथ नवविकसित श्वेत कमल की तरह खिलखिलाता अपाला का नवविकसित यौवन

अतिथि कृशाश्व की दृष्टि अपाला के एक अंग से दूसरे अंग पर फिसलने लगी। अपाला ने अतिथि के दृष्टि-भाव को पहचान लिया। वह आंचल से अपने अंगों को छिपाने लगी। किंतु विकसित अंग दृष्टि बचाकर इधर-उधर से झांकने लगे। अपाला लजा गई और तुरंत उठकर अपनी कुटिया में चली गई। कृशाश्व की आंखें उसका पीछा करती रहीं

तभी महर्षि अत्रि आ गए।

कृशाश्व ने उठकर उनके चरणों में अपना सिर रख दिया। महर्षि ने आशीर्वाद दिया।

''क्या काफी देर से आए हैं, ऋषि कृशाश्व?''

''नहीं, नहीं। अभी आया हूं।''

''थक गए होंगे। अभी मधुपर्क मंगाता हूं।''

''मैं मधुपर्क ले चुका हूं, महर्षि। फल भी। मेरी अच्छी शुश्रूषा हुई है।''

किसने शुश्रूषा की आपकी?''

अत्रि आश्चर्य से बोले।

एक युवती ने। अभी-अभी सामने वाली कुटिया में गई है— अल्हड़ मृगी सी!''

ओह! अपाला होगी। मेरी पुत्री है।''

आपकी पुत्री?''

हां कृशाश्व! वह मेरी पुत्री अपाला है। वेद-विज्ञ। सेवा-भाव के साथ ही अत्यंत कुशाग्रबुद्धि पाई है उसने।''

युवा ऋषि कृशाश्व विचारमग्न हो गए। तप-साधना से उनका शरीर कृशकाय हो गया था। अंतस् की लौ कितनी जली थी, ज्ञात नहीं, किंतु शरीर का लौ बुझ-सी गई थी। उनके पर्ण-कुटीर में कोई उनकी सेवा-शुश्रूषा करने वाला नहीं था। बहुत दिनों से उन्हें इस कमी का आभास हो रहा था। वे कुछ देर चुप रहे।

फिर अचानक ही बोले, ''मैं आपकी पुत्री से विवाह का आकांक्षी हूं, ऋषिवर!''

महर्षि अत्रि की पैनी दृष्टि कृशाश्व की दृष्टि में उलझ-सी गई। वे पुन: पुनः उन्हें देखने लगे। फिर ध्यान आया अपाला का। उसके श्वेत कुष्ठ का। वे सहसा चिंतातुर हो उठे। बोले, ''क्या तुमने अपाला को देख लिया है, ऋषि कृशाश्व?''

हां! अभी-अभी देखा है, ऋषिवर।''

क्या उसे अच्छी तरह देख लिया है?''

हां, हां, महर्षि! मैं पूर्णतः संतुष्ट हूं और अपनी ओर से विवाह का प्रस्ताव रखता हूं।''

किंतु...'' महर्षि अत्रि को पुन: पुत्री के शरीर पर उभरे श्वेत धब्बों का ध्यान आया। चिंता की रेखा मस्तक पर उभरी। किंतु युवा पुत्री के विवाह की चिंता भी व्यग्र कर रही थी। विवाह आवश्यक था। समय का माग थी। इसी में उनकी प्रिय पुत्री का सुख और कर्म निहित था।

क्या आप मुझे इस योग्य नहीं मानते, ऋषिवर, कि मैं आपकी पुत्री का हाथ थाम सकूं?'' कृशाश्व ने विचलित कंठ से प्रश्न किया।

"नहीं, नहीं, ऋषि! ऐसा नहीं है। आप हर प्रकार से सुयोग्य हैं। वेदविज्ञ हैं। तपस्वी हैं। अल्पभाषी और अल्पकाम हैं। आपसे अधिक सुयोग्य वर अपाला के लिए और कौन हो सकता है? यदि आप तैयार हैं तो मैं भी आपको अपना जामाता स्वीकार करता हूं।"

और आश्रमवासियों के समक्ष कृशाश्व और अपाला को विवाह-सूत्र में बांध दिया गया। सभी बहुत प्रसन्न थे।

ऋषि कृशाश्व कुछ समय बीत जाने पर अपनी नवविवाहिता भार्या के साथ अपने निवास-स्थान की ओर चले गए।

अपाला ने अपने कृशकाय पति ऋषि कृशाश्व की खूब सेवा-शुश्रूषा की। समय पर अच्छा पौष्टिक भोजन, औषधि-युक्त तेल से अंग-मर्दन, मीठी वाणी और प्रेम-भरी पुष्ट देह का समर्पण। ऋषि को और क्या चाहिए? वह नेत्र बंद करके भौंरे की तरह मदमस्त पराग-रस पीते रहे। धरती पर स्वर्ग उतर आया था। मरुस्थल के ऊंट ने सुगंधित शीतल जलाशय में डुबकी लगाई। वह इस भय से बाहर नहीं निकलना चाहता कि कहीं पुनः मरुस्थल में न पहुंचा दिया जाऊं।

कुछ मास इसी भांति बीत गए। समय पंख लगाकर तीव्र गति से उड़ता रहा। भोग की भी एक सीमा है—सभी सीमाओं की तरह। अपाला से कृशाश्व के भोग की धीरे-धीरे तृप्ति हुई। और फिर शनैः-शनैः तृप्ति ने विरक्ति का रूप ले लिया। अब आंखें खुलीं भ्रमर की। और ऋषि कृशाश्व को दिखाई पड़े पत्नी के शरीर पर श्वेत कुष्ठ के विकृत धब्बे।

ऋषि के मुंह का स्वाद बिगड़ गया। तरल प्रेम-भरी आंखें वासना को पार करती हुई घृणा से भर गईं। अनुरक्ति विरक्ति में परिणत हो गई। जो दृष्टि अपाला के मुखकमल से हटती नहीं थी, वह शून्य में जाकर स्थिर हो गई। विवाह-सूत्र कच्चा पड़ने लगा।

अपाला ने स्वयं को बहुत आहत अनुभव किया। वह तड़प उठी। भयभीत-सी बोली, "प्रियतम! आजकल आप मुझसे कटे-कटे-से रहते हैं। क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है?"

"अपराध तुम्हारे इस कलंकित शरीर का है! यह रोगी शरीर मेरे

कुछ पूछे ही वे सब कुछ भांप गए।

उन्होंने पुत्री को सस्नेह गले से लगाया। कुटीर में बिठाकर कभी ज्ञान की और कभी मनोरंजन-भरी कहानियां सुनाने लगे।

किंतु अपाला का मन शांत नहीं हुआ। उसे बार-बार अपने शरीर से विरक्ति होने लगी। उसने एक झटके से निश्चय किया कि वह इस कलुषित शरीर को तप की अग्नि में भस्म कर देगी। या तो यह देह नष्ट हो जाएगी या फिर 'परम शोभनीय' ही बन जाएगी।

वह तपस्या-रत हो गई। भोजन त्याग दिया। जल भी त्याग दिया। केवल वायु के सहारे तप करती रही। शरीर की अग्नि ने शरीर का ही रक्त, मांस, मज्जा हवि के रूप में लेनी आरंभ कर दी।

देह कृश होती गई।

आत्मा पुष्ट होती गई।

अपाला को इंद्र देव की छवि प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। उसके ओठों से इंद्र की स्तुति में मंत्र फूटे--

"इंद्र! आपका प्रत्येक गृह में प्रवेश है। आप परमतेजस्वी हैं। सुधीर हैं। मैं आपके लिए परमपौष्टिक सोम तैयार करूंगी। आपको उसका पान कराऊंगी। सोम का पान कर आप और अधिक बलिष्ठ और शत्रुहंता हो जाएंगे। मैं इस समय आपके दर्शन करना चाहती हूं..."

अपाला की स्तुति से प्रसन्न होकर इंद्र प्रकट हो गए।

अपाला ने उनकी पूजा-अर्चना की।

सामने ही सोमलता दिखाई दी। अपाला चकित हुई--देव सहायक हो गया है! उसने सोमलता लेकर उसे तोड़ना चाहा, ताकि उसका रस चुआकर उससे सोम निष्पन्न किया जा सके। सोम का रस निचोड़ने के लिए उसने पत्थर की खोज की। पत्थर के अभाव में उसने अपने दांतों के घर्षण से ही सोमरस निकाला।

इंद्र उसकी श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न हुए। सोमरस पीकर इंद्र प्रफुल्लित हो गए।

अपाला ने पुनः इंद्र की अभ्यर्थना की, "हे इंद्र! मुझे संपन्न बनाइए। मेरा शरीर, मेरी वाणी शोभायमान हो। मैं पति द्वारा परित्यक्ता

हाने पर आपकी शरण में हूं। हे इंद्र, मेरे अंग-अंग को दोष-रहित तथा कोमल तेजोमयी त्वचा वाला बनाइए..."

स्तुति सुनकर इंद्र ने अपाला के शरीर को रथ के छिद्र से तथा शकट युग के छेद से तीन बार निकाला। अपाला के शरीर की त्वचा के तीन आवरण छिलकर निकल गए और उसकी त्वचा का दोष समाप्त हो गया।

वह सूर्य की कांति के समान दमकने लगी।

उसने इंद्र को पुनः प्रणाम किया और उनका स्तवन किया।

आश्रम में आकर वह ध्यान और ज्ञान में लीन रहने लगी।

जब ऋषि कृशाश्व को अपाला के कायाकल्प की सूचना मिली तो वह पुनः अपाला को लेने आए।

अपाला ने उनकी ओर से दृष्टि फेर ली। तिरस्कार से कहा, "देह के पुजारी! अब यह देह तुम्हारी नहीं है, देवेंद्र की है! अब यह उन्हीं की पूजा-अर्चना के काम आएगी। तुम्हें तो कोई भी एक देह चाहिए। कोई और ढूंढ लो। मुझसे तोड़े विवाह-सूत्र को किसी और के संग बांध लो। जब वह देह भी क्षीण हो जाए तो फिर कोई और देह मिल जाएगी। मेरी यह दिव्य देह अब तुम्हारे लिए नहीं है। यह देह नहीं, दिव्य आत्मा का मंदिर है। यह आत्मस्वरूप ही है...और तुम्हें चाहिए मात्र देह।"

अपाला की वाणी में आत्मिक अनुभव की दृढ़ता थी।

देह-लोलुप कृशाश्व तिरस्कृत, लज्जित-से मुंह लटकाए लौट गए।

# पुरूरवा-उर्वशी

स्वर्गलोक। देवराज इंद्र की सभा।

मणि-माणिक्य जड़े उच्च हेम-सिंहासन पर देवेंद्र सुशोभित हैं। उनके दाईं-बाईं ओर गोलाकार, अनेक श्रेष्ठ आसनों पर अन्य देवगण— बृहस्पति, अग्नि, मित्र, वरुण, सूर्य, अश्विनीकुमार आदि बैठे हैं। अप्सरा उर्वशी का ललित नृत्य चल रहा है। गंधर्व वीणा, मृदंग, आदि पर स्वर के आरोह-अवरोह से संगीत-लहरी उठा रहे हैं। उर्वशी के घुंघरू-बंधे पांव स्वर-ताल और मृदंग की थाप के साथ थिरक रहे हैं। वह सौंदर्य का दर्प, कोमलांगी, नृत्य करती हुई महालय के उस विशाल कक्ष में एक पल में इधर और दूसरे पल में उधर घूम आती। उसकी कमलनाल-सी सुडौल अनावृत भुजाएं और सौ-सौ बल खाती, स्वर्ण-छड़ी-सी क्षीण कटि और उसकी झूलती-झनझनाती स्वर्ण-मेखला तथा पीन नितंब सभी को मदमस्त बनाए हुए थे।

वह सूर्य-रश्मि-सी चमक-चमक जाती। अपने दिव्य आलोक से वह उस विशाल कक्ष को आलोकित किए हुए थी। सभी उपस्थित देव संगीत नृत्य और सौंदर्यत्रयी में बहुत देर से सराबोर हो रहे थे। लगता था जैसे आज बहुत सुरा पी ली है। वे झूम रहे थे और उनके मुख से बार बार 'वाह! वाह!' का स्वर फूट पड़ता था। और उर्वशी थी कि नृत्य करती थकती ही नहीं थी जैसे वह भी संगीत-सुर का अंश बन गई हो।

और तभी।

देवर्षि नारद ने प्रवेश किया। वे खड़े-खड़े एक-एक देवता के चेहरे को बड़े ध्यानपूर्वक निहारते रहे।

आहट पाकर संगीत-नृत्य रोक दिया गया। इंद्र का ध्यान देवर्षि की ओर गया। "बैठो, देवर्षि नारद। आसन ग्रहण करो! खड़े-खड़े हमारे मुख

की ओर क्या देख रहे हो?''

नारद बोले, ''देवेंद्र, मैं देख रहा हूं कि आपके दरबार में क्या कोई देव ऐसा भी है जो पृथ्वी के उस पुरुषसिंह के समान हो।''

''पृथ्वी का पुरुषसिंह? किसकी बात कर रहे हो, नारद?'' इंद्र ने पूछा।

''क्या मर्त्यलोक में भी कोई पुरुष ऐसा हो सकता है जो देवों के समान हो?'' मित्र देवता ने आश्चर्य प्रकट किया।

''तुम मानव को देवों के समतुल्य बता रहे हो, नारद?'' वरुण ने उपहास किया।

''हां, वह देवतुल्य ही नहीं, वरन् देवों से भी बढ़कर है। उसका दमकता ललाट, वृषभस्कंध, सिंह की-सी पुष्ट छाती, हस्ति-पाद-सी सुदृढ़ भुजाएं, बाघ-सी मदमाती निर्भय चाल और उसकी विस्तृत झील-सी गहरी आंखें। उस पृथ्वीपति पुरूरवा के समकक्ष पुरुष आप देवों में तो कोई प्रतीत नहीं होता।'' नारद प्रशंसा करते जा रहे थे।

देवों का मन पुरूरवा के प्रति ईर्ष्या और नारद के प्रति क्रोध से भरता जा रहा था।

उर्वशी किसी पुरुष के ऐसे गुण सुन-सुनकर मन ही मन मानव पुरूरवा की मूर्ति गढ़ रही थी। वह नारद के मुंह की ओर देखे जा रही थी और उनकी वाणी को बड़ी गंभीरता से सुन रही थी। वह पुरूरवा को बिना देखे ही उसकी काल्पनिक छवि पर मुग्ध हो रही थी। उसे पता ही नहीं चला कि उसने सहज भाव में कब नारद से पूछ लिया, ''और कैसा है वह?''

बस, सभी देवों का ध्यान उर्वशी की ओर चला गया। उस अनुरक्ता को पता ही नहीं चला कि सभी देव उसी को निहार रहे हैं। वह तो कल्पना में उभरती अपरिचित पुरूरवा की छवि निहार रही थी। उसकी दृष्टि कहीं दूर अभी-अभी निर्मित किए गए माटी-पुत्र पुरूरवा पर टिकी हुई थी।

उर्वशी की ऐसी दशा देखकर मित्र-वरुण को ईर्ष्यावश क्रोध आ गया। वे चीखे, ''उर्वशी! तुम मर्त्यलोक के एक साधारण मानव पर इतनी

अनुरक्त हो गई हो। हम तुम्हें शाप देते हैं। तुम स्वर्गलोक से गिरकर पृथ्वी पर उसी मानव का साहचर्य प्राप्त करो। अंतरिक्ष-रमणी गंधर्वी! तुम मर्त्यलोक में साधारण मानवी बनकर विचरण करो।''

प्रातवेला।

उगते सूर्य ने पृथ्वी को अपने लाल केसरिया-मिश्रित रंग से रंग दिया था। चारों ओर अभी-अभी सोकर उठे पक्षियों का कलरव गूंज रहा था।

पुरूरवा सरोवर में स्नान कर रहे थे।

सूर्य की अरुण रश्मियां जलराशि के साथ अठखेलियां कर रही थीं।

सरोवर में असंख्य शुभ्र एवं नील कमल खिले थे।

पुरूरवा ने डुबकी लगा जल से सिर बाहर निकाला। सामने तट पर दृष्टि पड़ी—देखा और देखते ही रह गए।

सरोवर किनारे—

एक दिव्य आभा!

आदम-कद स्वर्ण की नारीमूर्ति! जैसे एक रश्मि सूर्य से टूटकर यहीं स्थिर हो गई हो!

जैसे पूर्णिमा का चंद्रमा अंतरिक्ष से उतर, धरती पर आकर बैठ गया हो।

जैसे कोई स्वर्ग की अप्सरा अपना मार्ग भूल-भटककर यहां ठहर गई हो।

स्वर्ग की अप्सरा...

और उर्वशी ने देखा अपने समक्ष—

सरोवर में—

सद्यः विकसित अरुण कमल!

समुद्र से निकला उदीयमान सूर्य!

भीगा-भीगा पुरुष-सौंदर्य।

कटि-प्रदेश से ऊपर अनावृत सुगठित पुरुष-देह।

अंग-अंग से टपकता पौरुष!

आमंत्रण-सा देता प्रखर व्यक्तित्व।
एक दमकता हुआ अंगारा जैसा।
संपूर्ण वीरोचित देह!
जितना नारद से सुना था उससे भी कुछ अधिक....
उर्वशी का मन उलझ गया।
दोनों ओर सन्नाटा—एक अमूर्त, अव्यक्त संवाद।
नेत्रों से देहलिपि का पठन।
नेत्र-ज्योति के प्रकाश में दृष्टि से दृष्टि का वार्तालाप।
और तभी—
एक जंबूफल टहनी से टूटकर सरोवर में गिरा। छप की ध्वनि हुई।
पुरुरवा का ध्यान भंग हुआ। पलक झपकी, किंतु दृष्टि वहीं स्थिर रहा
बोले, "मैं जो देख रहा हूं, यह क्या स्वप्न है?"
"नहीं यह सत्य है, राजन्।" संकोच-भरा कोमल स्वर गूंजा।
"क्या स्वर्गिक सौंदर्य धरती पर..."
"हां नर-पुंगव।" नेत्र कुछ लज्जा गए।
"क्या देवलोक की शोभा मृत्युलोक में?"
"हां, वीरवर!" दृष्टि कुछ और झुक गई।
"क्या गंधर्वी-अप्सरा धरा पर?"
"हां, मानवश्रेष्ठ!" चेहरा रक्ताभ हो गया।
"क्या दिव्य लोक भू-लोक पर?"
"हां, भूपते!" वक्ष कंपित हुआ।
"क्या उर्वशी की प्रतिकृति?"
"स्वयं उर्वशी, महाराज!" पलकें बंद हो गईं।
"......"
"......"
पुरुरवा हर्षातिरेक से बाहर निकले। तट पर उर्वशी के सामने पहुंचकर खड़े हो गए। छूने को धीरे से हाथ उठा, लेकिन साहस नहीं

हो सका। तुरंत हाथ पीछे हटा लिया। दृष्टि से देखने पर भी विश्वास नहीं होता

उर्वशी आंखें बंद किए, लज्जावनत, मूर्ति-सी खड़ी है।

यह कैसे संभव हुआ, देवी?" पुरूरवा ने ससंकोच पूछा।

कुछ देर मौन। फिर अस्फुट-सी स्वर-लहरी फूटी, "आपके प्रति मेरा प्रणय ही मुझे यहां खींच लाया, नरशार्दूल।"

यह मेरे किस भाग्य का उदय हुआ है, कामिनी?"

आपके पास आकर कोई भी भाग्यशाली हो सकता है, नरपति।"

अपार्थिव का पार्थिव से प्रणय?"

यह गुणों का आकर्षण है, पृथ्वीपते।"

क्या मिलन संभव है?"

हां, संभव है।" कटि-वल्लरी में तरंग-सी उठी। "किंतु..."

किंतु क्या, शुभे?" पुरूरवा की आंखों उर्वशी की दृष्टि में गड़ गए

मेरी तीन शर्तें हैं।" उर्वशी की दीर्घ पलकें उठीं।

प्रणय और सशर्त?"

इसे देवलोक की विवशता समझें।"

मैं प्रस्तुत हूं, देवरंजिनि! कहें।"

प्रथम शर्त, पृथ्वपति! आप दिन में तीन बार से अधिक मेरा आलिंगन नहीं करेंगे।"

स्वीकार है, मीनाक्षी।" पुरूरवा कुछ मुसकराए।

द्वितीय शर्त—मेरी इच्छा के विपरीत कभी मेरे साथ शयन नहीं करेंग उर्वशी कुछ लजाई।

यह भी स्वीकार है, मानिनी। अपनी अंतिम शर्त कहो।" पुरूरवा ने कुछ सतर्क होते हुए कहा।

जिस क्षण मुझे आपका नग्न दर्शन हो जाएगा उसी क्षण मैं आपका त्याग कर दूंगी।" उर्वशी ने स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में कहा।

इतनी कठोर शर्त क्यों, देवि?" पुरूरवा ने जिज्ञासा व्यक्त की।

नरश्रेष्ठ! जैसे सूक्ष्म आत्मा का आवरण स्थूल शरीर है ऐसे ही

मानव-गरिमा का आवरण लज्जा है। दोनों का टिके रहना आवश्यक है!''

''तुम्हारी बातें भी तुम्हारी तरह रहस्यमयी हैं, ललितांगी! मुझे समझकर क्या करना है? जो तुम कहो, मुझे सब स्वीकार है। मैं वचन देता हूं। अब?''

''अब मैं प्रस्तुत हूं।'' प्रसन्नवदना उर्वशी पुरूरवा की ओर झुकी।

पुरूरवा ने स्पर्शाकांक्षी बांहें फैला दीं।

उर्वशी उनमें समा गई।

विद्युत-तरंग जैसे घने बादलों में छिप गई।

और कुछ मास पश्चात्।

पुरूरवा के महालय में एक सुसज्जित भव्य विशाल कक्ष।

स्वर्णखचित, मणि-माणिक्य-मंडित पर्यंक पर पुरूरवा और उर्वशी प्रेमालाप में निमग्न हैं। अपने तन-मन को दूसरे के तन-मन में विलय करके अपने होने की सार्थकता ढूंढ़ रहे हैं। विपरीत देह की सुवास नासापुटों को सुवासित कर रही है।

उर्वशी की घनी केशराशि में पुरूरवा की उंगलियां प्रेम-लिपि अंकित कर रही हैं। स्थूल देह-ऊर्जा का आदान-प्रदान हो रहा है। स्पर्श का रोमांच पूरे कक्ष को रोमांचित कर रहा है।

पर्यंक के दो पायों से दो मेष रज्जु से बंधे हैं। एक ने 'मैं-मैं' की ध्वनि की। पुरूरवा का ध्यान उधर गया।

''तुम इन दोनों मेष को सदैव अपने साथ क्यों रखती हो, प्रिये?'' पुरूरवा ने धीरे से पूछा।

''ये दोनों मेरे पुत्र हैं। मैं इनके बिना नहीं रह सकती। मैं इन्हें बहुत प्रेम करती हूं।'' उर्वशी ने मेष के ऊपर हाथ फेरते हुए कहा।

''क्या मुझसे भी अधिक?'' पुरूरवा ने जिज्ञासा प्रकट की।

''नारी तो प्रियतम और पुत्र—दोनों को ही प्रेम करती है। इन दोनों में प्रतिद्वंद्विता कहां है, राजन्?''

''मुझे तो अपना भय रहता है, अंतरिक्षवासिनी। मेरे किन्हीं पुण्य कर्मों से धरा पर अवतरित सुगंध कहीं वापस अंतरिक्ष में ही न उड़

जाए?" सशंकित पुरूरवा ने उर्वशी की सुचिक्कण ग्रीवा पर हाथ फेरते हुए कहा।

और प्रेम-वार्ता करते-करते दोनों निद्रा की गोद खो चले।

कुछ देर पश्चात ही उर्वशी को कुछ आहट का आभास हुआ। कक्ष के बाहर मेषों का 'मैं-मैं-मैं-मैं' करुण क्रंदन सुनाई पड़ रहा था। उर्वशी ने उठकर देखा—कक्ष में दोनों मेष नहीं हैं। बाहर गूंजते उनके क्रंदन की ध्वनि दूर होती जा रही थी।

उर्वशी ने भी रोना प्रारंभ कर दिया—

"हाय, मेरे पुत्रों को कोई चुराकर ले गया है! उठो, राजन्, उठो!"

कोई प्रतिक्रिया नहीं।

"हाय! किसी ने मेरे पुत्रों का हरण कर लिया है...शीघ्र जागो राजन्, उन्हें छुड़ाकर लाओ।"

पुरूरवा की निद्रा भंग हो गई। उन्होंने सुन भी लिया था, किंतु उन्हें स्मरण हो आई उर्वशी की अंतिम शर्त—'जिस क्षण मुझे आपका नग्न दर्शन हो जाएगा, उसी क्षण मैं आपका त्याग कर दूंगी।' पुरूरवा इस समय नग्नावस्था में उठना नहीं चाहते थे।

उर्वशी विलाप करने लगी, "हाय! मैंने तो आपको वीरवर समझा था, आप तो कायर निकले। मेरे प्रिय दोनों पुत्रों का हरण हो गया है और आप भयभीत कायर की भांति पर्यंक पर पड़े हैं! क्या मैं किसी क्लीव के पास आ गई हूं?"

पुरूरवा फिर भी मौन रहे। ये कटु वचन उनके हृदय में तीर की भांति चुभ रहे थे, किंतु उन्हें शर्त के अनुसार, उर्वशी के त्यागकर चले जाने का भय था।

उर्वशी ने पुनः व्यंग्य किया, "आपके पूर्वज प्रजापति मनु ने क्षुप को अपना खड्ग देते हुए कहा था—यदि कहीं अन्याय-अत्याचार होते हुए देखो तो इस खड्ग का सदुपयोग करते हुए धर्म की रक्षा करना! क्षुप ने यह खड्ग इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु ने वही खड्ग आपको वही शब्द कहते हुए दिया था। राजन्! अपने पूर्वजों के इन वचनों को क्या आप धूल-धूसरित कर दोगे?"

पुरूरवा क्रोधित होकर उठकर बैठे। फिर भी मौन रहे।

''आपके पूर्वज अत्रि, सोम, बुध, पितृलोक में बैठे क्या सोचते होंगे? उन्हें कितनी पीड़ा होगी। यह देखकर कि आप जैसा कायर पुरुष उनके कुल में जन्मा है। हाय! जिसकी भार्या अरक्षित हो, जिसके पुत्रों का हरण हो गया हो, वह कुलकलंकी कापुरुष मेरा पति है...मुझे तो सोचकर भी लज्जा आ रही है!'' उर्वशी जोर-जोर से विलाप करने लगी।

पुरूरवा इन वाग्बाणों से आहत और विचलित हो गए। उनके पौरुष ने हुंकार भरी। वह अपनी प्रतिज्ञा भूल गए। अपनी नग्नावस्था की स्थिति भूल गए। आवेश में अपना खड्ग हाथ में थामा और हुंकारते हुए वह कक्ष से बाहर चले गए।

थोड़ी ही देर में उन्होंने दोनों मेषों की रज्जु पकड़े हुए कक्ष में प्रवेश किया—''देखो उर्वशी! मैं तुम्हारे दोनों पुत्रों को इन दस्यु गंधर्वों से छुड़ाकर वापस ले आया हूं। लो, इन्हें थामो और आओ मेरे पास।''

और तभी सहसा कक्ष एक विचित्र प्रकाश से भर गया। पुरूरवा खड़े थे पूर्ण नग्नावस्था में। उर्वशी ने उन्हें प्रथम बार देखा उस अवस्था में और एक क्षण में ही वह प्रकाश लुप्त हो गया। पुनः वही रात्रि का महा अंधकार।

पुरूरवा पुकारने लगे, ''उर्वशी, तुम बोलतीं क्यों नहीं? तुम कहां हो, प्राणप्रिये? संभालो, अपने प्रिय पुत्रों को! देखो, इन्हें। ये दोनों भी तुम्हारे बिना बहुत अधीर हुए जा रहे हैं।''

कोई ध्वनि नहीं। कोई शब्द नहीं।

पुरूरवा पुकारते रहे। अंधकार में उर्वशी को कक्ष में यहां-वहां टटोलते रहे। किंतु सब कुछ नीरव। सन्नाटा!

प्रातः सूर्य-रश्मियों ने कक्ष में प्रवेश किया। कक्ष खाली था।

उर्वशीविहीन।

केवल मेषों की 'मैं-मैं-मैं-मैं' की ध्वनि आ रही थी। उर्वशी तो उस समय पहुंच गई थी पुनः सुरपुर में।

पुनः सज गया था सुरेंद्र का दरबार। पुनः उर्वशी के घुंघरूओं से झंकृत हो रहा था देवलोक। मरुस्थल में जाह्नवी प्रकट हुई थी! प्रचंड

ग्रीष्म के पश्चात अमृत वर्षा-सी हुई थी। अमरलोक में पुनः बसंत आ गया था।

विश्वावसु गंधर्व का षड्यंत्र सफल हुआ था। उसने उर्वशी की तीनों शर्तों का पता लगा लिया था। उसे मेषों के प्रति उर्वशी के लगाव का भी ज्ञान था।

जब देवों में उर्वशी के जाने के पश्चात् उदासी छा गई तो उसको पुनः पृथ्वीलोक से देवलोक वापस लाने की चर्चा होने लगी। देवों ने अपना अपमान समझा कि सुरपुर का सौंदर्य मिट्टी में मिला जा रहा है। आकाश की अप्सरा एक मानव की बांहों में सिमटकर रह गई है। एक मानव ने देवों से श्रेष्ठ बनने का प्रयास किया है।

यदि पुरूरवा के साथ देव युद्ध करें तो उर्वशी इससे रुष्ट होगी और देवलोक लौटेगी नहीं। फिर कैसे लाया जाए?

विश्वावसु गंधर्व ने यह उपाय सुझाया कि किसी तरह उर्वशी को पुरूरवा का नग्न दर्शन करा दिया जाए तो वह स्वयं ही उसे त्यागकर सुरपुर में आ जाएगी।

और वह अपने षड्यंत्र में सफल भी रहा।

उर्वशी आ गई थी देवों के पास—उनको हर्षविभोर करने के लिए जो सदा ही आनंदित रहते हैं उनको और आनंद प्रदान करने के लिए

# परोक्ष युद्ध

महाराज पृथु ने भूमि को बनाया-संवारा था और जल आदि की व्यवस्था कर इसको इस योग्य बनाया था कि इसमें धन-धान्य, वनस्पति आदि उत्पन्न हो सकें। पृथु के पराक्रम के कारण ही धरती का नाम 'पृथ्वी' पड़ा। इस पर मानव-राज्य की स्थापना हुई। देवों एवं ऋषियों ने इस अवसर पर एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया।

सुविस्तृत वेदी में अग्नि प्रज्वलित है। चारों ओर देव और अनेक ऋषि-महर्षि बैठे हैं। देवराज इंद्र स्वयं इस यज्ञ में उपस्थित हैं। मंत्रोच्चार हो रहा है। आहुतियां डाली जा रही हैं। यज्ञ के प्रधान पुरोहित ऋषि गृत्समद हैं। मंत्रोच्चार करते-करते और हविष्य डालते-डालते उन्हें लगा कि कुछ गड़बड़ है। कहीं से यज्ञ में बाधा डालने का प्रयास किया जा रहा है।

उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो पाया कि कुछ असुर देवराज इंद्र के शत्रु बनकर आए हैं और उनका वध करना चाहते हैं। उनमें विशेष रूप से दैत्य धुनि और चुमुरि हैं जो बहुत बलवान हैं। वे इंद्र की प्रतिष्ठा से ईर्ष्या करते हैं और उनको सब तरह से नीचा दिखाना चाहते हैं। वे युद्ध में देवराज से जीत पाएंगे या नहीं, यह तो अलग बात है, किंतु इससे यज्ञ में विघ्न तो पड़ ही जाएगा।

ऋषिवर को चिंता हुई— यज्ञ भी निर्विघ्न पूरा करना है और इंद्र को भी बचाना है। ऋत्विज होने के नाते यह उनका कर्तव्य है।

उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने अर्धरात्रि के पश्चात देवराज इंद्र से कहा कि यज्ञ का भार मैंने अपने शिष्य को सौंप दिया है, जो निर्विघ्न यज्ञ को पूरा करेगा। मैं एक अत्यंत आवश्यक कार्य से जा रहा हूं। बहुत शीघ्र लौटूंगा।"

ऋषिवर बाहर निकल गए और उन्होंने तुरंत देवराज इंद्र का वेश

बना लिया। असुरों ने उन्हें वास्तविक इंद्र समझा और उनके पीछे-पीछे चल पड़े। गृत्समद ने आगे-आगे भागना प्रारंभ कर दिया। असुर भी उनके पीछे-पीछे भागते रहे।

गृत्समद असुरों से आंखें बचाते, कभी ओझल होते, कभी प्रकट हो जाते, कभी तेज दौड़ते। वे असुरों के हाथ नहीं आए। असुर थक गए।

असुर किसी तरह उनके पास पहुंचकर उनको पकड़ने ही वाले थे कि अवसर पाकर गृत्समद अपने असली रूप में आ गए। असुरों ने उनको पकड़ लिया और पूछा कि तुम कौन हो। वे बोले कि मैं तो एक दरवासा संन्यासी हूं। आपके हथियार देखकर डर के मारे भाग रहा था।

तो फिर इंद्र कहां है?"

इंद्र! वह तो वैन्य पृथु के यज्ञ में वेदी पर बैठे हैं। यज्ञ चल रहा है, इंद्र वहीं उपस्थित हैं।"

किंतु हम तो अपने उस महाशत्रु का वध करना चाहते हैं?"

अवश्य कीजिए। वे तो यज्ञमंडप में ही मिलेंगे। किंतु क्या आप उनका वध करने में समर्थ हैं?"

क्यों नहीं? हम वीर हैं और आयुधों से सज्जित हैं। हम अपने शत्रु को कभी नहीं छोड़ते।" असुरों ने दर्प से कहा।

यदि आप वीर हैं तो इंद्र परमवीर हैं। आपके पास आयुध हैं किंतु इंद्र के वज्र के सामने तो सब आयुध तुच्छ हैं।"

अच्छा! क्या ऐसा है?" असुरों ने जिज्ञासा प्रकट की।

गृत्समद ने उनकी इस जिज्ञासा का लाभ उठाया। वे बोले, "क्या आपने कभी इंद्र की शक्ति को जाना-परखा है?"

नहीं! किंतु उसका नाम सुना है। उसकी प्रतिष्ठा से हम ईर्ष्या करते हैं। और इसीलिए हम उसे समाप्त करना चाहते हैं।"

यदि आप उनको भली-भांति नहीं जानते तो सुनिए।" गृत्समद इंद्र की प्रशंसा करते हुए यज्ञ-स्थल की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

वे परमवीर इंद्र हैं, जो मानवों, ऋषियों और देवों के अग्रगण्य हैं वे इंद्र हैं, जिनके भय से आकाश एवं पृथ्वी व्याप्त हैं। वे इंद्र हैं, जिन्होंने कांपती पृथ्वी को दृढ़ता प्रदान की है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने क्रोधित पर्वतों का शमन किया है। अंतरिक्ष का निर्माण किया है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने वृत्र

का वध कर नदियों के जल-प्रवाह को मुक्त किया है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने पणियों द्वारा चोरी की गई गायों को मुक्त किया है। इंद्र ने ही मघ मल्लाओं में भी अग्नि उत्पन्न की है। इंद्र ने ही इस संसार की रचना की है इंद्र की ही सर्वत्र चर्चा है। इंद्र के प्रति सबकी जिज्ञासा है...''

दोनों असुर धुनि और चुमुरि इंद्र की प्रशंसा सुनकर भयभीत होने लगे ऋषि ने उनके भय को भांप लिया। वे और भी अधिक भयोत्पादक वाणी मे इंद्र की प्रशंसा करने लगे।

भिक्षुकों को धनवान बनाने वाले इंद्र हैं। जल, अश्व, ग्रह, रथ आदि को हांकने वाले इंद्र हैं। यज्ञ में जिनकी स्तुति गाई जाती है वे इंद्र हैं जिनका सब आह्वान करते हैं, वे इंद्र हैं। पापियों का संहार करने वाले इन्द्र हैं दुष्टों के विनाशक इंद्र हैं...''

ऋषि ने अपनी ओजपूर्ण वाणी से इंद्र की प्रशंसा कर-करके दोनों असुरों को भयातुर कर दिया। उनके मन में इंद्र का आतंक व्यापने लगा।

ऋषि और उत्साहित होकर पुनः इंद्र की प्रशंसा करने लगे—

इंद्र ने ही शंबर असुर का वध किया था! महाबली अहि को मारा था इंद्र ही हैं, जिनके सम्मुख आकाश झुकता है और पर्वत कांपते हैं। इंद्र सोमपान करके और भी दृढ़ हो जाते हैं। उनका वज्र विद्युत के समान है वे अजेय हैं। वे परम वीर हैं। उनको जीतना असंभव है...''

इन्द्र की इतनी प्रशंसा सुन-सुनकर असुरों के मन में इंद्र की छवि एक महान् योद्धा और असुर-संहारक की बन गई। वे उनके नाम से ही कांपने लगे। उनका मनोबल गिर गया।

जब वे यज्ञशाला के निकट पहुंचे तो ऋषि ने संकेत से इंद्र को सब कुछ समझा दिया। इंद्र ने तुरंत अपना वज्र उठाकर उन भयभीत असुरों पर धावा बोल दिया। कुछ देर युद्ध हुआ। पहले ही मानसिक रूप से हारे हुए असुर युद्ध में पराभूत हुए। इंद्र ने वज्र से दोनों असुरों का वध कर दिया

इंद्र ऋषि गृत्समद की ओर स्नेह और कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देख रहे थे। बोले ''ऋषिवर! आपने मुझ पर उपकार किया है। आप मेरे मित्र हैं।''

'देवेंद्र।'' ऋषि बोले- ''आपका मित्र होना किसी के लिए भी

बना लिया। असुरों ने उन्हें वास्तविक इंद्र समझा और उनके पीछे-पीछे चल पड़े। गृत्समद ने आगे-आगे भागना प्रारंभ कर दिया। असुर भी उनके पीछे-पीछे भागते रहे।

गृत्समद असुरों से आंखें बचाते, कभी ओझल होते, कभी प्रकट हो जाते, कभी तेज दौड़ते। वे असुरों के हाथ नहीं आए। असुर थक गए

असुर किसी तरह उनके पास पहुंचकर उनको पकड़ने ही वाले थे कि अवसर पाकर गृत्समद अपने असली रूप में आ गए। असुरों ने उनको पकड़ लिया और पूछा कि तुम कौन हो। वे बोले कि मैं तो एक वनवासा संन्यासी हूं। आपके हथियार देखकर डर के मारे भाग रहा था

तो फिर इंद्र कहां है?''

इंद्र! वह तो वैन्य पृथु के यज्ञ में वेदी पर बैठे हैं। यज्ञ चल रहा है इंद्र वहीं उपस्थित हैं।''

किंतु हम तो अपने उस महाशत्रु का वध करना चाहते हैं?''

अवश्य कीजिए। वे तो यज्ञमंडप में ही मिलेंगे। किंतु क्या आप उनका वध करने में समर्थ हैं?''

क्यों नहीं? हम वीर हैं और आयुधों से सज्जित हैं। हम अपने शत्रु को कभी नहीं छोड़ते।'' असुरों ने दर्प से कहा।

यदि आप वीर हैं तो इंद्र परमवीर हैं। आपके पास आयुध हैं किंतु इंद्र के वज्र के सामने तो सब आयुध तुच्छ हैं।''

अच्छा! क्या ऐसा है?'' असुरों ने जिज्ञासा प्रकट की।

गृत्समद ने उनकी इस जिज्ञासा का लाभ उठाया। वे बोले, ''क्या आपने कभी इंद्र की शक्ति को जाना-परखा है?''

नहीं! किंतु उसका नाम सुना है। उसकी प्रतिष्ठा से हम ईर्ष्या करते हैं। और इसीलिए हम उसे समाप्त करना चाहते हैं।''

यदि आप उनको भली-भांति नहीं जानते तो सुनिए।'' गृत्समद इंद्र की प्रशंसा करते हुए यज्ञ-स्थल की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

वे परमवीर इंद्र हैं, जो मानवों, ऋषियों और देवों के अग्रगण्य हैं वे इंद्र हैं, जिनके भय से आकाश एवं पृथ्वी व्याप्त हैं। वे इंद्र हैं, जिन्होंने कंपित पृथ्वी को दृढ़ता प्रदान की है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने क्रोधित पर्वतों को शांत किया है। अंतरिक्ष का निर्माण किया है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने वृत्र

का वध कर नदियों के जल-प्रवाह को मुक्त किया है। वे इंद्र हैं, जिन्होंने पणियों द्वारा चोरी की गई गायों को मुक्त किया है। इंद्र ने ही मद्य मात्राओं में भी अग्नि उत्पन्न की है। इंद्र ने ही इस संसार की रचना की है। इंद्र की ही सर्वत्र चर्चा है। इंद्र के प्रति सबकी जिज्ञासा है...''

दानों असुर धुनि और चुमुरि इंद्र की प्रशंसा सुनकर भयभीत होने लगे। ऋषि ने उनके भय को भांप लिया। वे और भी अधिक भयोत्पादक वाणी मे इंद्र की प्रशंसा करने लगे।

भिक्षुकों को धनवान बनाने वाले इंद्र हैं। जल, अश्व, ग्रह, रथ आदि को हांकने वाले इंद्र हैं। यज्ञ में जिनकी स्तुति गाई जाती है वे इंद्र हैं जिनका सब आह्वान करते हैं, वे इंद्र हैं। पापियों का संहार करने वाले इंद्र हैं दुष्टों के विनाशक इंद्र हैं...''

ऋषि ने अपनी ओजपूर्ण वाणी से इंद्र की प्रशंसा कर-करके दोनों असुरों को भयातुर कर दिया। उनके मन में इंद्र का आतंक व्यापने लगा।

ऋषि और उत्साहित होकर पुनः इंद्र की प्रशंसा करने लगे—

इंद्र ने ही शंबर असुर का वध किया था! महाबली अहि को मारा था इंद्र ही हैं, जिनके सम्मुख आकाश झुकता है और पर्वत कांपते हैं। इंद्र सामपान करके और भी दृढ़ हो जाते हैं। उनका वज्र विद्युत के समान है। व अजेय हैं। वे परम वीर हैं। उनको जीतना असंभव है...''

इंद्र की इतनी प्रशंसा सुन-सुनकर असुरों के मन में इंद्र की छवि एक महान् योद्धा और असुर-संहारक की बन गई। वे उनके नाम से ही कांपने लगे। उनका मनोबल गिर गया।

जब वे यज्ञशाला के निकट पहुंचे तो ऋषि ने संकेत से इंद्र को सब कुछ समझा दिया। इंद्र ने तुरंत अपना वज्र उठाकर उन भयभीत असुरों पर धावा बोल दिया। कुछ देर युद्ध हुआ। पहले ही मानसिक रूप से हारे हुए असुर युद्ध में पराभूत हुए। इंद्र ने वज्र से दोनों असुरों का वध कर दिया

इंद्र ऋषि गृत्समद की ओर स्नेह और कृतज्ञता-भरी दृष्टि से देख रहे थे। बोले ''ऋषिवर! आपने मुझ पर उपकार किया है। आप मेरे मित्र हैं।''

'देवेंद्र!'' ऋषि बोले- ''आपका मित्र होना किसी के लिए भी

गौरव की बात है।''

आज आपने मेरे शत्रुओं से परोक्ष युद्ध कर मेरी सहायता की है।

भला आपको कौन पराजित कर सकता है, वज्रधर?''

महात्मन्! आपका अबाधित तप मेरे भी काम आया है। आप परोपकारी हैं।''

आपका अनुग्रह है, सुरेश्वर।''

मैं बहुत प्रसन्न हूं। मुझसे वर मांगिए, ऋषिवर!''

ऋषि संकोच के कारण चुप हो गए।

मुझसे वर मांगिए, ऋषिवर। संकोच त्यागिए।''

शचीपते!''

हां, हां, बोलिए, ऋषिवर।'' इंद्र ने उन्हें उत्साहित करते हुए कहा

ऋषि बोले, ''आप प्रसन्न होकर हमें स्वस्थ, शोभन शरीर तथा हृदयगम होने वाली वाणी दीजिए।''

तथास्तु! और मांगिए।''

उस वाणी की सुरक्षा हो।''

होगी। और मांगो!'' इंद्र ने प्रेम से उत्साहित किया।

हम सुखी रहें, संपन्न हों। श्रेष्ठ धन तथा ख्याति प्राप्त करें। हमारा भाग्योदय हो।''

और, ऋषिवर?'' इंद्र ने प्रसन्नवदन कहा।

देवेंद्र! हम सर्वदा आपका ध्यान करें। हम प्रत्येक जन्म म आपको जान जाएं। आप हमसे कभी दूर न हों।''

आपकी सभी कामनाएं पूर्ण होंगी, ऋषिवर।''

इद्र ने मित्र-भाव से ऋषि का हाथ पकड़ा। ऋषि गद्‌गद हो गए। उन्होंने श्रद्धा से इंद्र का स्पर्श किया।

दोनों ने प्रसन्नता से इंद्रलोक की ओर गमन किया।

# त्रित का उद्धार

विभूवस पुत्र ऋषिकुमार त्रित जंगल में अपनी गायों को चरा रहा था। वह बहुत प्रसन्नचित्त था। उसे अपनी गायों से बहुत प्रेम था। गायें भी उससे बहुत हिल-मिल गई थीं। वह जब चाहता गायों के थन से दूध की धार अपने मुंह में मार लेता। कभी किसी गाय के गले में बांहें डालकर उससे लिपट जाता। कभी गीत गाने लगता। गायें हरित तृण-चरतीं और वह वटवृक्ष की घनी छाया-तले लेटकर सुस्ताता। कभी-कभी उसे लगता जैसे यज्ञ करने से भी अच्छा गायों के साथ घूमना और उनकी सेवा करना है। वह आनंदित मन वृक्ष के नीचे आंखें बंद किए लेटा हुआ था।

और तभी—

उसने सुना—गायें रंभा रही थीं। चीत्कार कर रही थीं। उसने आंखें खोलीं और उठकर गायों की ओर भागा। देखा—सालावृक गायों पर निर्दयतापूर्वक प्रहार कर रहे थे। गायें बेचारी इधर-उधर भाग रही थीं। सालावृक उन पर प्रहार कर घेर रहे थे और बलात् अपने साथ ले जाना चाहते थे।

त्रित ने उनको ललकारा। सालावृक संख्या में अधिक थे और बलिष्ठ भी। वे गायों पर प्रहार करते हुए अपनी दिशा की ओर हांकते रहे। गायें अपने रक्षक त्रित की ओर भागती रहीं। त्रित ने सालावृकों से करबद्ध प्रार्थना की कि गायों को न मारो, किंतु उन्होंने उसकी एक न सुनी। बल्कि वे त्रित पर भी प्रहार करने लगे। त्रित गायों की ओर भागता और गायें त्रित की ओर।

सालावृकों ने सोचा कि इनको एक-दूसरे से अलग करना होगा, तभी वे गायों को ले जा सकेंगे। किंतु त्रित को अलग कहां ले जाएं। एकांत जंगल में उसे कहां छिपाकर रखें? कोई स्थान दिखाई नहीं पड़ा। आखिर उन्हें निकट ही एक अंधकूप नजर आया। सालावृकों ने त्रित को

उसी अंधकूप में धकेल दिया और उसकी गायों को मारते-पीटते अपने साथ हांककर ले गए।

अंधकूप में गिरकर त्रित अचेत हो गया था। काफी देर पश्चात् जब उसे चेतना आई तो उसका सारा बदन दर्द कर रहा था। उसके शरीर पर काफी चोटें आई थीं। रक्त भी बह रहा था। उसने अपने शरीर के घावों को सहलाया। काफी पीड़ा हो रही थी। फिर आंखें चारों ओर घुमाई। ओह! तब उसे अहसास हुआ कि वह तो अंधकूप में पड़ा है। नीचे सड़ा-गला घास-फूस। चारों ओर पत्थर की पुरानी टूटी-फूटी दीवारें। छिद्रों में उगे हरित तृण। और ऊपर दृष्टि उठाई तो नीले आकाश का छोटा-सा टुकड़ा।

इस कूप में न सूर्य-रश्मियां आ सकती हैं और न पवन का झोंका ही। वह शोर भी मचाए तो उसकी कातर वाणी उस कूप की गोल-गोल दीवारों में ही गूंजकर रह जाएगी। बल्कि और अधिक भयावह वातावरण उत्पन्न करेगी। बाहर विराट निर्जन स्थान। कोसों दूर तक कोई प्राणी नहीं। कौन सुनेगा उसकी पुकार? और फिर याद आई उसकी प्यारी गायें। आह! वह भी विवश होकर उसे छोड़कर चली गईं। और अब वह है अकेला। निपट अकेला! और वह भी इस अंधकूप में!

धीरे-धीरे संध्या घिर आई। फिर अंधेरी रात, ऊपर एक मुट्ठी आकाश दिखाई देना भी बंद हो गया। घने अंधकार की काली चादर फैल गई। अब तो चारों तरफ की कूप की बदरंग दीवारें भी दिखाई नहीं पड़तीं। वह इधर-उधर हाथ मारता है तो दीवारों का स्पर्श होता है। नीचे गंदा, गीला घास-फूस।

उसे अपनी इस दयनीय, बेबस अवस्था पर बहुत दुःख हो रहा है। वह जाने क्या-क्या सोचने लगा। वह कब तक इस अंधकूप में यों ही भूखा-प्यासा पड़ा रहेगा। वह एक-एक बूंद पानी के लिए तरस-तरस कर मर जाएगा। यह शरीर अंततः कितने दिन तक भूख सहन कर सकता है? तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, छः दिन...पहले पेट की अग्नि शरीर के मांस का भक्षण करेगी, फिर मज्जा का, फिर आंतों का। जब मात्र अस्थियां शेष बचेंगी तो प्राण-पखेरू शरीर को त्याग कर उड़

जाएंगे।

फिर वे अस्थियां भी धीरे-धीरे करके क्षीण होंगी। वर्षा आएगी। अंधकूप जल और कीचड़ से भरेगा। अस्थियां भी कीचड़ में सन जाएंगी। गलेंगी, सड़ेंगी। जब जल सूख जाएगा तो कीचड़ उसकी अस्थियों से लिपट जाएगा। ग्रीष्म ऋतु में कीचड़ हट जाएगा और उसकी भूरी-भूरी अस्थियां कहीं-कहीं से झांकेंगी। और एक दिन वह कीचड़ भी अस्थियों का साथ छोड़ देगा। और शताब्दियां बीतने पर वे पूरी तरह धूल-धूसरित हो जाएंगी। वे मिट्टी का ही एक अंग बन जाएंगी।

क्या यही अस्तित्व है मनुष्य का? क्या अंत में मिट्टी ही नियति है मानव-देह की? क्या इस पृथ्वी पर स्वयं को श्रेष्ठ समझने वाला यह जीव केवल मिट्टी ही है। फिर इस मिट्टी में से सतत प्रवाहित प्राण; कामनाओं की धधकती आग, आकाश छूती महत्त्वाकांक्षाएं, पर्वत की चोटियों को झुकाती उद्दाम लालसाएं, झरने-सा फूटता संगीत, हृदय-सरोवर से सरिता-सा बहता प्रेम, लावा-सी फूटती घृणा, दावाग्नि-सी जलाती चिंता, धन-संपत्ति, स्वर्ण-गोधन का संग्रह और उनकी छीना-झपटी, ये यज्ञ, आहुति, मंत्रोच्चार, देव-आह्वान, यह सब क्यों? किसलिए? किसके लिए?

त्रित का मन विचारों के झंझावात से घिर गया। उसने अब तक केवल सुना था या पढ़ा था कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न होते हैं। किंतु आज उसे उनका भेद स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। आज जैसे आत्मानुभूति की घड़ी आ गई थी। उसे अपनी आत्मा उस गहन अंधकूप में भी अलग खड़ी हुई दिखाई दी थी, एक प्रकाश-बिंदु स्वरूप। नहीं! यह आत्मरूप में स्वयं ही प्रकाशमान था और उसका अस्थि-पिंजर ही उस अंधकूप में अलग पड़ा दिखाई दे रहा था। जिससे उसका अब कोई नाता नहीं था। जब जीव मात्र की यही नियति है तो वह औरों से भिन्न थोड़े ही है।

त्रित को यह भी भ्रम हो गया कि वह जाग्रत अवस्था में यह सब सोच रहा है कि स्वप्न देख रहा है। उसकी तंद्रा तब टूटी जब ऊपर एक मुट्ठी आकाश पुनः धुंधला-सा दिखाई पड़ा। वह समझ गया कि भोर हो गई है। एकाध पक्षी ऊपर से उत्तर दिशा की ओर जाता दिखाई पड़ जाता।

धीरे धीरे वह छोटा-सा आकाश स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। सूर्य देव का रथ प्राची से पश्चिम की ओर बढ़ रहा था।

त्रित को पुनः जीवन के लक्षण दिखाई देने लगे। पुनः देह और आत्मा एक हो गए। नर-कंकाल पर मानो पुनः मांस चढ़ गया। श्वास तेज हो गई। आशा ने अंगड़ाई ली। जीवन पुनः जागा। असार संसार में पुनः सार नजर आने लगा।

त्रित किसी तरह साहस कर पैरों पर खड़ा हो गया। उसने ऊपर आकाश की ओर दोनों हाथ उठाए और प्रार्थना करने लगा, ''हे इंद्र, मैं वही त्रित हूं जिसके लिए आपने अर्जुन का वध किया था। मैं वही त्रित हूं जिसने आपको सोम बनाकर पिलाया था।

हे इंद्र! मैं वही त्रित हूं जिसके लिए आपने गायें उपलब्ध कराई थीं आज उन्हीं गायों के कारण मैं इस अंधकूप में पड़ा हूं। आज आप मेरे लिए एक बूंद दूध देने को भी उत्सुक नहीं हैं। मैं आपके ही समान कर्मठ हूं, फिर भी अपनी कर्मगति पर आंसू बहाता हुआ अंतिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

मैं त्रित! मंत्र-द्रष्टा! श्रेष्ठ ऋषि! वरुण के सात ऋषियों में से एक आज मैं विपन्न, संकटग्रस्त, असहाय, अपनी ही मृत्यु की घड़ी देख रहा हूं। मेरी उपासना, संध्या, स्तवन, त्याग-तपस्या सब व्यर्थ हो गई, क्योंकि इन सबका आधार शरीर ही है। शरीर ही नहीं रहेगा तो बाकी सब भी समाप्त हो जाएगा।

हे रोदसी! सूर्य और चंद्रमा आकाश में विचरण करते हैं। मनुष्य उन्हें खोजने में असमर्थ है। फिर भी मेरी प्रार्थना सुनो! स्त्री पति प्राप्त करता है। धनाकांक्षी धन प्राप्त करते हैं। पति-पत्नी दोनों मिलकर संतानों का उत्पत्ति करते हैं। तुम मेरे कष्टों का निवारण करो। हम सोमकर्ता कभी सुखकारी पुत्र के अभाव का अनुभव न करें।

मैं महान् अग्नि से प्रसन्न करता हूं, देवदूत इसका उत्तर दे पुरातन नियम कहां गया? कौन उसे धारण करता है? हे रोदसी! मेरे कष्टों को समझो।

हे समस्त देवगण! तुम्हारा ज्योतिर्मय अंतरिक्ष में स्थान है। तुम्हारा नियम क्या है? क्या अपनों को कष्ट में छोड़कर भूल जाना? अथवा

इसके विपरीत? हमारा प्राचीन आह्वान कहा गया? हे रोदसी! मेरे दुःख को अनुभव करो।

हे वरुण! आपकी व्यवस्था कहां गई? दुष्टों के पार अर्यमा हमें किस प्रकार कर सकेंगे? हे रोदसी, हमारे कष्टों को समझो।

मैंने सोम को निष्पन्न करने वाले अनेक शास्त्रों को पूर्वकाल में कहा है। तृषित हरिण को जिस प्रकार वृक भक्षण कर जाता है उसी प्रकार मेरे मन की व्यथा मेरा भक्षण करती जा रही है! हे रोदसी, मेरे दु:खों को समझो।

सौतिनें जिस प्रकार पति को व्यथित करती हैं, उसी प्रकार इस कूप की दीवारों ने चारों ओर से मुझे व्यथित कर रखा है। हे इंद्र, जिस प्रकार चुहिया अपनी ही पूंछ को चबाती हुई स्वयं कष्ट पाती है, उसी प्रकार मेरे मन की व्यथा मुझे ही चबा रही है। हे रोदसी, मेरे कष्टों का निवारण करो।

मैं जलपुत्र त्रित जानता हूं कि सप्तरश्मिधारी सूर्य से मेरा पैतृक सब ंध हैं। मैं उन रश्मियों की स्तुति करता हूं। हे रोदसी, मेरे कष्टों को समझो

अंतरिक्ष में अग्नि, वायु, सूर्य, इंद्र, विद्युत, पांच वीर स्थित हैं। वे सभा मेरे स्तोत्र को देवों को सुनाकर लौट आएं। हे रोदसी! मेरे दुःखों को समझो।

'हे देवगण! मेरा यह नवीन स्तोत्र प्रशंसनीय है, हितकर है। कल्याण का उद्घोषण करता है। नदियां देवों के नियमों की प्रेरक हैं। सूय सत्य का प्रचारक है। हे रोदसी! मेरे दुःखों को समझो।

'हे अग्ने! तुम्हारा देवताओं से बंधुत्व प्रशंसनीय है। होता-तुल्य तुम यज्ञों में देवताओं का पूजन करते हो। हे रोदसी, तुम मेरे कष्टों को समझो।

'वरुण मंत्र-स्वरूप स्तुतियों की रचना करते हैं। उन स्तुतियों से हम अर्चना करते हैं। स्तुतियां अपने हृदयों से कहते हैं। उन स्तुतियों से सत्य प्रतिभासित होता है। हे रोदसी! मेरे दुःखों को समझो।

'इंद्र सब वीर पुरुषों से युक्त इस स्तोत्र द्वारा युद्ध में विजय प्राप्त करें मित्र, वरुण, अदिति, सिंधु, पृथ्वी, मेरे इस स्तोत्र का समर्थन करें।

हे बृहस्पति! आपका करुणा कहां गई? वरुण की त्रैकालिक शक्ति कहां गई? वे तो सर्वद्रष्टा हैं। अर्यमा भी सर्वद्रष्टा हैं। क्या वे मेरी इस दशा नहीं देख पा रहे हैं?"

बृहस्पति की करुणा जागी। वे तुरंत आए। त्रित की यह शोचनीय दशा देखकर वे व्याकुल हो गए।

त्रित ने बृहस्पति को 'शिरसा नमामि' कहा और उनका आभार प्रकट किया। वह विलाप करने लगा, "इस अंधकूप की निर्जीव ईंटों ने मुझे अत्यंत आहत किया है। मेरी इस दुर्दशा पर कोई मुझे सांत्वना देने वाला नहीं है।"

बृहस्पति बोले, "हे त्रित! तुम्हारी इस दयनीय स्थिति पर भला किस पाषाण हृदय में करुणा नहीं फूटेगी? हे मंत्रविद्! तुम्हारा कल्याण होगा। तुम और अधिक निराश मत होओ।"

बृहस्पति ने सहारा देकर त्रित को उस अंधकूप से बाहर निकाला।

त्रित ने पुनः विस्तृत जगत् का दर्शन किया। उसके मन में विचार आया कि यह जगत् उसके बिना बिलकुल वैसे ही चल रहा था। वैसा ही सूर्य निकला था। वैसी ही हवा बह रही थी। वैसे ही हरित तृण चरते हुए मृग विचरण कर रहे थे। गायें वटवृक्ष के नीचे वैसे ही सुस्ता रही थीं। आकाश में पक्षी भी पहले की तरह ही पंख फैलाकर उड़ान भर रहे थे। फूल वैसे ही खिले थे। सब कुछ वैसा का वैसा था। यदि नहीं था तो केवल वह ही नहीं था!

त्रित ने बृहस्पति का आभार प्रकट किया। बृहस्पति ने कहा, "अब स्वस्थ हो जाओ, त्रित। तुम्हारे पवित्र यज्ञ में सब देवता आएंगे। मैं उन्हें यहां आने के लिए प्रेरित करूंगा।"

बृहस्पति ने त्रित की सभी अपहृत गायें सालावृकों से वापस दिलवा दीं।

त्रित पुनः प्रसन्न हुआ। उसने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया और सभी देवों का आवाहन किया।

बृहस्पति की प्रेरणा से द्यो, अंतरिक्ष और पृथ्वी तीनों स्थानों के देवता उसमें सम्मिलित हुए। त्रित की कीर्ति पुनः सर्वत्र फैल गई।

# ऋषि सौभरि और पचास पत्नियां

मंत्र द्रष्टा ऋषि सौभरि अपने आश्रम में एक कुशासन पर ध्यानमग्न बैठे थे। संध्या होने वाली थी। सूर्य पश्चिमी आकाश में अभी दो लाठी ऊपर था। पक्षी पेड़ों की शाखाओं में कलरव कर रहे थे। आश्रम में खिले फूलों को छूकर पवन मंद-मंद बह रहा था। वातावरण सुगंधित था।

आश्रम-द्वार पर कुछ शोर-सा सुनाई पड़ा। घोड़ों-रथों की चलने-रुकने की आहट।

सौभरि का ध्यान भंग हुआ।

थोड़ी ही देर में देखा—राजा त्रसदस्यु सामने बद्धांजलि खड़े हैं।

"प्रणाम, महात्मन्!" राजा ने झुककर सौभरि को प्रणाम किया।

"राजन् आप! इस समय? अपने महालय को छोड़कर मेरी इस कुटिया में? आपका स्वागत है, नरपुंगव।" ऋषि राजा के अभिवादन में खड़े हो गए।

ऋषि ने संकेत से राजा को पास ही बिछे दूसरे कुशासन पर बैठने क लिए कहा। मधुपर्क से सत्कार किया।

"आप सकुशल हैं न, राजन्?" ऋषि ने सादर पूछा।

"आपका आशीर्वाद फलित है, महात्मन्!"

"आपका दान ही सर्वत्र ललित है, राजन्! आपके दान की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है।" ऋषि ने राजा की प्रशंसा करते हुए कहा।

"वह भी तो आपकी कृपा से ही संभव होता है, ऋषिश्रेष्ठ।" राजा ने विनम्र होते हुए कहा।

"मैं कुछ दान करने की भावना लेकर आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूं, तपोनिष्ठ। मुझे अनुमति दें।" राजा ने हाथ जोड़कर कहा।

"आप तो पहले ही बहुत दान कर चुके हैं, पृथ्वीपते। सत्तर सहस्र

अश्व, दो सहस्र ऊंट, एक सहस्र कृष्णवर्णी अश्विया, दस सहस्र श्वेत-वर्णी धेनु। कोई कहां तक गिनाए? आपके दान से तो यह भूमि गौरवान्वित है, दानी भूपति।''

''आज मैं एक विशेष दान करता हूं, ऋषिवर...और ऐसा दान मैं अपने जीवन में प्रथम बार कर रहा हूं। इसलिए आपकी अनुमति चाहिए।''

''दान तो दान है, राजन्! चाहे किसी भी वस्तु का हो।''

''किंतु यह वस्तु नहीं है, ऋषि सौभरि! इसीलिए आपकी अनुमति की आवश्यकता है।''

''तो फिर और क्या है, नरपते?'' ऋषि ने जिज्ञासा प्रकट की।

''पहले अनुमति दें, ऋषिवर।'' राजा ने और विनीत होते हुए कहा।

''भला दान के लिए कौन अनुमति नहीं देगा! दान कैसा भी क्यों न हो, सदैव कल्याणकारी ही होता है। मेरी अनुमति है, राजन्।''

राजा त्रसदस्यु और भी झुकते हुए बोले, ''मैं कन्यादान करना चाहता हूं, महर्षि।''

''कन्यादान तो सर्वश्रेष्ठ दान है। अवश्य करना चाहिए।'' ऋषि सौभरि ने प्रसन्न होकर कहा।

''मैं यह दान आपको ही करना चाहता हूं, ऋषिवर।'' राजा ने सौभरि की आंखों में झांकते हुए कहा।

''मुझे? और कन्यादान?'' विस्मित नेत्रों से ऋषि ने पूछा।

''हां, ऋषि सौभरि। मैं आपको अपनी पचास कन्याओं का दान करके अपना जामाता बनाना चाहता हूं।'' राजा ने स्पष्ट बताते हुए कहा।

''......''

ऋषि आश्चर्यचकित रह गए।

''आपने अनुमति दे दी है, ऋषिवर! अब इस दान को ग्रहण करने में संकोच न करें।''

राजा कुछ और खुल गए। उन्होंने पीछे मुड़कर हाथ से दो ताली बजाई। पीछे खड़े सेवक को संकेत किया।

और क्षण-भर में महारानी के साथ राजा की पचास युवा कन्याएं

उपस्थित हो गईं। सभी राजसी वेष में सुसज्जित। स्वर्णाभूषणों, रत्न-मणियों से अलंकृत। लज्जाभार से दबी। अवनतमुख।

उनके पीछे खड़े थे कुछ सुरक्षाकर्मी।

महारानी आकर राजा की बाईं ओर खड़ी हो गईं। दोनों ने ऋषि के सामने हाथ जोड़ याचना-भरे स्वर में कहा, ''हमारी इन कन्याओं को अपनी भार्या स्वीकार करें, ऋषिवर! और हमें कृतार्थ करें।''

ऋषि ने मौन स्वीकृति दे दी।

राजा त्रसदस्यु ने विधिवत् पूजा-अर्चना कर और प्रचुर धन-धान्य, अश्व, धेनु, रत्न आदि देकर, अपनी पचास कन्याओं का हाथ ऋषि सौभरि को सौंप दिया और अपने राज्य में लौट गए।

सभी पचास कन्याओं ने ऋषि के चरण-स्पर्श किए और उनको पति रूप में स्वीकार किया।

इतना धन-संपत्ति पाकर ऋषि प्रसन्न हुए। राजा त्रसदस्यु का जामाता बनकर, उनका आदर-सत्कार प्राप्त करके उन्होंने और भी अधिक सुख का अनुभव किया। सुंदर, युवा पत्नियों को देखकर उनका मन प्रफुल्लित हो गया।

किंतु फिर मन को आशंका ने घेर लिया—पचास युवा पत्नियों को सभालूंगा कैसे? सबको समान प्रेम, समान सुख एवं समादर-भाव चाहिए।

वे चिंतन में डूब गए और फिर याद आए देवराज इंद्र। हां, इंद्र ही उनकी चिंता मिटा सकते हैं। वे मंत्रों द्वारा इंद्र की स्तुति करने लगे—

''इंद्रदेव! आप अद्‌भुत हैं। विविध रूप धारण करते हैं। अपनी रक्षा के लिए हम आपकी कामना करते हैं। आप धन-संपत्ति दाता हैं। श्रेष्ठ कर्म आपको अर्पित हैं। आपकी सुरक्षा के कारण ही हम सुरक्षित हैं। आप सर्वव्याप्त हैं। आप सबके सखा हैं। मैं आपकी स्तुति करता हूं। निस्संदेह आपका स्तवन करने वाला तृप्त होता है।

''इंद्र, आप इच्छित फल देने वाले हैं। आप जन्म ग्रहण करते ही शत्रु शून्य हो गए थे। पिता-स्वरूप आपको आहूत करने वालों को आप पुत्रवत् धन देते हैं।

करते हैं। दोनों की प्रजा सुखी और धन-धान्य से तृप्त हैं। दोनों राज्यों की समृद्धि की कथाएं दूसरे राज्यों तक भी फैली हैं।

*"आप लोग कुशल से तो हैं न, राजन्?"* महर्षि ने सस्नेह प्रश्न किया।

"......"

दोनों ने ऋषि की ओर देखते हुए केवल हाथ जोड़ दिए। मौन ही रहे।

"आप जैसे धर्मनिष्ठ राजाओं को सकुशल ही होना चाहिए। आपकी कुशलता में ही प्रजा की कुशलता है। आप दोनों का नाम श्रेष्ठ राजाओं में गिना जाता है।"

दोनों राजा फिर भी मौन रहे। मात्र महर्षि की आंखों में अपनी याचना-भरी आंखें गड़ाए देखते रहे।

"आप दोनों चुप क्यों हैं, राजन्? मैं आपके चेहरों पर चिंता की म्लान रेखाएं देख रहा हूं। जरा सुनूं तो! आपको क्या कष्ट हो सकता है? आप तो अपने राज्य में ही सुखी और संतुष्ट हैं— अविस्तारवादी और कामना-रहित।"

"हमारे इस सुख को ग्रहण लग गया है, गुरुदेव! वरशिख के पुत्र वारशिख असुरों से हमारी यह समृद्धि देखी नहीं गई। उन्होंने राहु-केतु बनकर हमारी इस संपदा को ग्रस लिया है। उन्होंने हमारे राज्य पर आक्रमण कर दिया। हम उस भीषण आक्रमण और असुरों की शक्ति के सामने नहीं टिक पाए। हमें पराजय का मुंह देखना पड़ा। असुर हमारी धन-संपदा, विपुल स्वर्ण, सहस्रों गौएं, घोड़े और हमारी अनमोल प्रिय वस्तुएं भी हमसे छीनकर ले गए हैं। हम संपदाहीन तो हो ही गए हैं, साथ में हीनभावना से ग्रस्त भी।"

दोनों राजा एक ही सांस में अपनी सारी व्यथा सुना गए जैसे बहुत दिनों का रुका हुआ बांध आज ही टूटा हो। और उनके लिए गुरु के समक्ष रोने के अतिरिक्त और दूसरी जगह थी भी कहां?

"हूं!" महर्षि भरद्वाज गंभीर हो गए।

"आपने यह सूचना मुझे पहले क्यों नहीं दी?"

"इंद्र! आप अन्न प्रदान करते हैं। हमें धनहीन मत कीजिए। हम आपके हैं। आपके अतिरिक्त और किसी से हम धन ग्रहण न करें। हमें स्थायी धन से पूर्ण कीजिए..."

सौभरि की स्तुति से प्रसन्न होकर इंद्र प्रकट हुए। बोले, "ऋषिवर, हम आपसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें कुछ देना चाहते हैं। मांगो, क्या मांगते हो!"

इंद्र के दर्शन कर ऋषि धन्य हो गए। उनके साथ ही उनकी पत्नियों की लंबी कतार लगी थी। उन्होंने भी इंद्र के दर्शन किए। उन्होंने इंद्र की कहानियां तो बहुत सुनी थीं, आज उन्हें प्रत्यक्ष देख भी लिया। वे अपने ऋषि पति पर गर्व करने लगीं, जिन्होंने देवों के राजा इंद्र को भी साक्षात् आश्रम में प्रकट कर लिया।

उनकी दृष्टि बार-बार देवराज इंद्र के दिव्य शरीर पर पड़ रही थी। किंतु लज्जा के कारण वे तुरंत नेत्र झुका लेती थीं। और इस तरह दृष्टि की लुकाछिपी का खेल चल रहा था।

इंद्र उस स्थिति को भांपकर मुसकरा रहे थे।

ऋषि को चुप देखकर इंद्र ने फिर कहा, "मांगो, ऋषि सौभरि! मांगो। मैं तुम्हारी कोई भी इच्छा पूरी करूंगा।"

सौभरि अपनी पंक्तिबद्ध पचासों पत्नियों को देखकर संकोच में डूबे हुए थे। इंद्र क्या सोचते होंगे—एक ऋषि और पत्नियां पचास! किंतु इसी के लिए तो इंद्र को याद किया है। वे सबके संकटमोचक हैं।

अंत तक उन्होंने साहस किया और बोले, "देवराज! आप देख ही रहे हैं कि मुझे पचास पत्नियां प्राप्त हुई हैं। मैं इन सबके साथ समान व्यवहार करना चाहता हूं। मुझे वरदान दें कि मैं इन सबके साथ अनेक रूप धारण करके इच्छानुसार एक साथ रमण करूं।"

इंद्र ने ऋषि की पचासों भार्याओं की ओर देखा और बोले, "ऐसा ही हो!"

ऋषि फिर बोले, "प्रभु! मुझे अक्षय यौवन, अक्षय रति-सुख, शंख-निधि तथा पद्म-निधि प्राप्त हों।"

"ऐसा ही होगा, ऋषि। कुछ और?"

इंद्र! आप अन्न प्रदान करते हैं। हमें धनहीन मत कीजिए। हम आपके हैं। आपके अतिरिक्त और किसी से हम धन ग्रहण न करें। हमें स्थायी धन से पूर्ण कीजिए..."

सौभरि की स्तुति से प्रसन्न होकर इंद्र प्रकट हुए। बोले, "ऋषिवर, हम आपसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें कुछ देना चाहते हैं। मांगो, क्या मांगते हो।"

इंद्र के दर्शन कर ऋषि धन्य हो गए। उनके साथ ही उनकी पत्नियों की लंबी कतार लगी थी। उन्होंने भी इंद्र के दर्शन किए। उन्होंने इंद्र की कहानियां तो बहुत सुनी थीं, आज उन्हें प्रत्यक्ष देख भी लिया। वे अपने ऋषि पति पर गर्व करने लगीं, जिन्होंने देवों के राजा इंद्र को भी साक्षात् आश्रम में प्रकट कर लिया।

उनकी दृष्टि बार-बार देवराज इंद्र के दिव्य शरीर पर पड़ रही थी। किंतु लज्जा के कारण वे तुरंत नेत्र झुका लेती थीं। और इस तरह दृष्टि की लुकाछिपी का खेल चल रहा था।

इंद्र उस स्थिति को भांपकर मुसकरा रहे थे।

ऋषि को चुप देखकर इंद्र ने फिर कहा, "मांगो, ऋषि सौभरि! मांगो मैं तुम्हारी कोई भी इच्छा पूरी करूंगा।"

सौभरि अपनी पंक्तिबद्ध पचासों पत्नियों को देखकर संकोच में डूबे हुए थे। इंद्र क्या सोचते होंगे—एक ऋषि और पत्नियां पचास! किंतु इसी के लिए तो इंद्र को याद किया है। वे सबके संकटमोचक हैं।

अंत तक उन्होंने साहस किया और बोले, "देवराज! आप देख ही रहे हैं कि मुझे पचास पत्नियां प्राप्त हुई हैं। मैं इन सबके साथ समान व्यवहार करना चाहता हूं। मुझे वरदान दें कि मैं इन सबके साथ अनेक रूप धारण करके इच्छानुसार एक साथ रमण करूं।"

इंद्र ने ऋषि की पचासों भार्याओं की ओर देखा और बोले, "ऐसा ही हो।"

ऋषि फिर बोले, "प्रभु! मुझे अक्षय यौवन, अक्षय रति-सुख, शंख-निधि तथा पद्म-निधि प्राप्त हो।"

"ऐसा ही होगा, ऋषि! कुछ और?"

हां, वृत्रहन्! मुझे कुछ और चाहिए।''

निस्संकोच मांगो, सौभरि! मैं दूंगा।'' इंद्र प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

ऋषि ने अपनी भार्याओं की ओर एक दृष्टि डाली और संकोच त्यागकर बोले, ''हे देव! भगवान विश्वकर्मा से कहें कि वे तत्काल मेरी पचासों भार्याओं के के लिए पृथक-पृथक पचास प्रासादों का निर्माण करें जो देववृक्षों और पुष्पलताओं से घिरे हों।''

यह सुनकर तो पत्नियों के चेहरे कमल की तरह खिल उठे।

वे इंद्र की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखने लगीं।

यह भी होगा, ऋषिवर! क्या कुछ और भी?''

हां देव! अंतिम वरदान मांग रहा हूं, जिसके बिना पूर्व-प्राप्त वरदान अधूरे हैं। मुझ अकिंचन पर एक कृपा और कर दें। मेरी इन पत्नियों में कभी पारस्परिक स्पर्द्धा न हो।''

इंद्र यह मांग सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े।

पत्नियों ने स्त्रियोचित लज्जा से अपने नेत्र झुका लिए।

इंद्र उन्हें देखकर मुसकराए फिर बोले, ''एवमस्तु।''

ऋषि सौभरि और उनकी पचासों पत्नियां वरदान पाकर प्रसन्न हो उठा उनके मन चहक उठे। उन्होंने इंद्र को अंजलिबद्ध प्रणिपात किया। ऋषि सौभरि ने देवराज इंद्र के चरणों में अपना मस्तक रख दिया।

उन्हें वरदान और आशीर्वाद देकर इंद्र अंतर्धान हो गए।

''इंद्र! आप अन्न प्रदान करते हैं। हमें धनहीन मत कीजिए। हम आपके हैं। आपके अतिरिक्त और किसी से हम धन ग्रहण न करें। हमें स्थायी धन से पूर्ण कीजिए...''

सौभरि की स्तुति से प्रसन्न होकर इंद्र प्रकट हुए। बोले, ''ऋषिवर, हम आपसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें कुछ देना चाहते हैं। मांगो, क्या मागते हो।''

इंद्र के दर्शन कर ऋषि धन्य हो गए। उनके साथ ही उनकी पत्नियों का लंबी कतार लगी थी। उन्होंने भी इंद्र के दर्शन किए। उन्होंने इंद्र की कहानियां तो बहुत सुनी थीं, आज उन्हें प्रत्यक्ष देख भी लिया। वे अपने ऋषि पति पर गर्व करने लगीं, जिन्होंने देवों के राजा इंद्र को भी साक्षात् आश्रम में प्रकट कर लिया।

उनकी दृष्टि बार-बार देवराज इंद्र के दिव्य शरीर पर पड़ रही थी। किंतु लज्जा के कारण वे तुरंत नेत्र झुका लेती थीं। और इस तरह दृष्टि की लुकाछिपी का खेल चल रहा था।

इंद्र उस स्थिति को भांपकर मुसकरा रहे थे।

ऋषि को चुप देखकर इंद्र ने फिर कहा, ''मांगो, ऋषि सौभरि! मांगो मैं तुम्हारी कोई भी इच्छा पूरी करूंगा।''

सौभरि अपनी पंक्तिबद्ध पचासों पत्नियों को देखकर संकोच में डूबे हुए थे। इंद्र क्या सोचते होंगे— एक ऋषि और पत्नियां पचास! किंतु इसी के लिए तो इंद्र को याद किया है। वे सबके संकटमोचक हैं।

अंत तक उन्होंने साहस किया और बोले, ''देवराज! आप देख ही रहे हैं कि मुझे पचास पत्नियां प्राप्त हुई हैं। मैं इन सबके साथ समान व्यवहार करना चाहता हूं। मुझे वरदान दें कि मैं इन सबके साथ अनेक रूप धारण करके इच्छानुसार एक साथ रमण करूं।''

इंद्र ने ऋषि की पचासों भार्याओं की ओर देखा और बोले, ''ऐसा ही हो।''

ऋषि फिर बोले, ''प्रभु! मुझे अक्षय यौवन, अक्षय रति-सुख, शंख-निधि तथा पद्म-निधि प्राप्त हो।''

'ऐसा ही होगा, ऋषि! कुछ और?''

हां, वृत्रहन्! मुझे कुछ और चाहिए।''

निस्संकोच मांगो, सौभरि। मैं दूंगा।'' इंद्र प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

ऋषि ने अपनी भार्याओं की ओर एक दृष्टि डाली और संकोच त्यागकर बोले, ''हे देव! भगवान विश्वकर्मा से कहें कि वे तत्काल मेरी पचासों भार्याओं के के लिए पृथक-पृथक पचास प्रासादों का निर्माण करें नो देववृक्षों और पुष्पलताओं से घिरे हों।''

यह सुनकर तो पत्नियों के चेहरे कमल की तरह खिल उठे।

वे इंद्र की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखने लगीं।

यह भी होगा, ऋषिवर! क्या कुछ और भी?''

हां देव! अंतिम वरदान मांग रहा हूं, जिसके बिना पूर्व-प्राप्त वरदान अधूरे हैं। मुझ अकिंचन पर एक कृपा और कर दें। मेरी इन पत्नियों में कभी पारस्परिक स्पर्द्धा न हो।''

इंद्र यह मांग सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े।

पत्नियों ने स्त्रियोचित लज्जा से अपने नेत्र झुका लिए।

इंद्र उन्हें देखकर मुसकराए फिर बोले, ''एवमस्तु।''

ऋषि सौभरि और उनकी पचासों पत्नियां वरदान पाकर प्रसन्न हो उठीं उनके मन चहक उठे। उन्होंने इंद्र को अंजलिबद्ध प्रणिपात किया। ऋषि सौभरि ने देवराज इंद्र के चरणों में अपना मस्तक रख दिया।

उन्हें वरदान और आशीर्वाद देकर इंद्र अंतर्धान हो गए।

# अभ्यावर्ती और प्रस्तोक का उद्धार

ब्रह्मवेत्ता, सूक्त-द्रष्टा महर्षि भरद्वाज का विशाल आश्रम।

आश्रम से निरंतर उठता यज्ञ-धूम्र आश्रम की सीमा के पार दूर-दूर तक फैला रहता है और सात्विक वृत्ति के लोगों को बरबस अपनी ओर आकर्षित करता है।

यज्ञ-धूम्र से अधिक दूर तक दिग्दिगंत को पारकर फैली है महर्षि भरद्वाज की कीर्ति तथा उनके ज्ञान, कर्म और भक्ति की सुगंध।

भरद्वाज केवल एक नाम नहीं, स्वयं में एक संस्था ही हैं—क्रांति-द्रष्टा विचार, ज्ञान और अनुभूति के घनीभूत पुंज। अंत:शक्ति के अक्षय भंडार।

वे अपनी पर्णकुटिया में मृगचर्म पर बैठे हैं। पांच-सात प्रबुद्ध शिष्य उनके समक्ष बैठे ज्ञानचर्चा कर रहे हैं। दो शिष्य उनके आदेश की प्रतीक्षा में तत्पर खड़े हैं।

तभी देखा—

कुटिया के द्वार पर महाराज चायमान अभ्यावर्ती और संजयपुत्र महाराज प्रस्तोक ऋषि की ओर उन्मुख दंडवत् प्रणाम की अवस्था में पड़े हैं।

महर्षि का ध्यान उधर गया। उन्होंने दोनों राजाओं को पहचान लिया। उन्होंने अपने आसन से उठकर दोनों राजाओं को अपनी भुजाओं में भरकर उठाया और सामने आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की।

दोनों राजा हाथ जोड़कर बैठ गए। महर्षि भरद्वाज को ज्ञात था कि अभ्यावर्ती और प्रस्तोक एक-दूसरे के पड़ोसी राजा हैं। दोनों के राज्य की सीमाएं मिलती हैं। दोनों में अत्यधिक प्रेम और आपसी सहयोग है।

दोनों ही धार्मिक वृत्ति के हैं और अपनी प्रजा का पालन संतानवद्

करते हैं। दोनों की प्रजा सुखी और धन-धान्य से तृप्त है। दोनों राज्यों की समृद्धि की कथाएं दूसरे राज्यों तक भी फैली हैं।

आप लोग कुशल से तो हैं न, राजन्?'' महर्षि ने सस्नेह प्रश्न किया।

......''

राजाओं ने ऋषि की ओर देखते हुए केवल हाथ जोड़ दिए। मौन ही रहे

आप जैसे धर्मनिष्ठ राजाओं को सकुशल ही होना चाहिए। आपकी कुशलता में ही प्रजा की कुशलता है। आप दोनों का नाम श्रेष्ठ राजाओं में गिना जाता है।''

दोनों राजा फिर भी मौन रहे। मात्र महर्षि की आंखों में अपनी याचना भरी आंखें गड़ाए देखते रहे।

आप दोनों चुप क्यों हैं, राजन्? मैं आपके चेहरों पर चिंता की म्लान रेखाएं देख रहा हूं। जरा सुनूं तो! आपको क्या कष्ट हो सकता है? आप तो अपने राज्य में ही सुखी और संतुष्ट हैं—अविस्तारवादी और कामना रहित।''

हमारे इस सुख को ग्रहण लग गया है, गुरुदेव! वरशिख के पुत्र वारशिख असुरों से हमारी यह समृद्धि देखी नहीं गई। उन्होंने राहु-केतु बनकर हमारी इस संपदा को ग्रस लिया है। उन्होंने हमारे राज्य पर आक्रमण कर दिया। हम उस भीषण आक्रमण और असुरों की शक्ति के सामने नहीं टिक पाए। हमें पराजय का मुंह देखना पड़ा। असुर हमारी धन सपदा, विपुल स्वर्ण, सहस्रों गौएं, घोड़े और हमारी अनमोल प्रिय वस्तुएं भी हमसे छीनकर ले गए हैं। हम संपदाहीन तो हो ही गए हैं, साथ में हीनभावना से ग्रस्त भी।''

दोनों राजा एक ही सांस में अपनी सारी व्यथा सुना गए जैसे बहुत दिनों का रुका हुआ बांध आज ही टूटा हो। और उनके लिए गुरु के समक्ष रोने के अतिरिक्त और दूसरी जगह थी भी कहां?

हूं!'' महर्षि भरद्वाज गंभीर हो गए।

आपने यह सूचना मुझे पहले क्यों नहीं दी?''

को अभी चैन नहीं मिल रहा है।''

पायु ऋषि ने कहा, ''राजन्! अब आप दोनों चिंता त्याग दें। पूज्य पिताजी के आदेश से ही मैं यहां आया हूं। मैं आपके अस्त्र-शस्त्र ऐसे अमाघ और दिव्य बना दूंगा कि शत्रु का कोई भी अस्त्र-शस्त्र उन्हें काट न सके पूज्य पिताजी भी देवराज इंद्र से आपकी सहायता के लिए प्रार्थना करेंगे

अब आप शीघ्र ही युद्ध की तैयारी कीजिए। कल प्रातःकाल ही मैं अभिमंत्रित करके आपके अस्त्रों को दिव्यास्त्र बना देता हूं। आपकी विजय निश्चित होगी।''

दोनों राजा रात को ही युद्ध की तैयारी में लग गए। सेना को एकत्रित कर लिया गया। शस्त्रागार से शस्त्र निकाल लिए गए।

ऋषि पायु गंगाजल और कुश लेकर शस्त्रागार के सामने खड़े हो गए व ऋग्वेद के प्रसिद्ध विजय सूक्त 'जीमूतस्य' (6/75/1) से आरंभ कर अंतिम आशीर्वचन सहित 19 ऋचाओं का पाठ कर, एक-एक शस्त्र को अभिमंत्रित कर उन्हें दिव्यास्त्र बनाने लगे।

इस प्रकार वे सभी शस्त्र देवता बन गए। पायु ऋषि ने उन देवों की स्तुति भी की। इस प्रकार सभी युद्धोपकरण, कवच-सहित योद्धा, धनुष, प्रत्यंचा धनुष की कोटियां, तरकश, सारथी और वल्गाएं, अश्व, आयुधागार रक्षक रणदेवता, बाण, कवच, कशा, हस्तत्राण, धनुर्युक्तबाण, युद्धारंभ में कवच बांधने वाला एवं युयुत्सु—सभी दिव्य कोटि में आ गए और अमाघ हो गए।

सारी तैयारी कर ऋषि ने आदेश दिया, ''राजन्! आपके शत्रु विजयोन्माद में निश्चिंत होकर सोए हुए हैं। यही शुभ अवसर है। अतः तुरंत युद्ध का नगाड़ा बजा दिया जाए।''

और...

अगले ही दिन—

हरियूपिया नदी के तट पर।

राजा अभ्यावर्ती और प्रस्तोक ने अपनी पूरी सेना और अभिमंत्रित शस्त्रास्त्र-सहित असुरों पर धावा बोल दिया।

"अवसर नहीं मिला, महर्षि। अब हम आपकी शरण में हैं। आपके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है। हम पर कृपा करके हमारी सहायता कीजिए।" अभ्यावर्ती और प्रस्तोक पुनः महर्षि के समक्ष दंडवत् गिर गए।

"उठो, राजन्! निश्चिंत हो जाओ। मैं अवश्य आपकी सहायता करूंगा। आपका खोया मनोबल और धन सब कुछ वापस मिलेगा। अब आप अपने-अपने राज्य में पधारें और अपनी चिंताएं यहीं छोड़ जाएं। आपका अभीष्ट मैं पूर्ण करूंगा।"

महर्षि भरद्वाज से आश्वासन पाकर दोनों राजा अपने घर लौट आए।

एक दिन राजा अभ्यावर्ती स्वयं राजा प्रस्तोक के घर गए। दोनों इसी चिंता में घुले जा रहे थे कि अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः कैसे प्राप्त किया जाए। इससे भी अधिक चिंता इस बात की थी कि कहीं असुर पुनः आक्रमण करके बची-खुची संपत्ति भी न छीन लें।

दोनों विचार-विमर्श कर रहे थे। इतने में उन्हें अपनी ओर एक ऋषि आते हुए दिखाई दिए।

दोनों ने उठकर उनका स्वागत किया।

वे पहचान गए कि ये महर्षि भरद्वाज के पुत्र ऋषि पायु हैं। वे कुछ आश्वस्त हुए। उन्होंने पायु की खूब सेवा-शुश्रूषा की। कुलगुरु का पुत्र वैसे भी पूज्य होता है।

राजा प्रस्तोक ने शंभर-युद्ध में शत्रु से विपुल संपदा प्राप्त की थी, जो उन्होंने अपने गुप्त कोष में छुपाकर रखी थी। राजा प्रस्तोक ने वह सारी संपत्ति निकलवाकर ऋषि पायु के चरणों में रख दी।

"दश स्थान् प्रष्टिमतः शतं गा असर्वभ्यः।
अश्वथः (प्रस्तोक) पायवेऽदात।"

(ऋक्. 6/47/24)

राजा ने विनीत स्वर में कहा, "ऋषे! हम लोग वारशिख असुरों के भय तथा अपने अपमान से अत्यंत त्रस्त हैं। अतएव आपके पूज्य पिता के पास पहुंचे थे। उन्होंने हमें आश्वस्त भी किया था, किंतु हमारे मन

को अभी चैन नहीं मिल रहा है।''

पायु ऋषि ने कहा, ''राजन्! अब आप दोनों चिंता त्याग दें। पूज्य पिताजी के आदेश से ही मैं यहां आया हूं। मैं आपके अस्त्र-शस्त्र ऐसे अमोघ और दिव्य बना दूंगा कि शत्रु का कोई भी अस्त्र-शस्त्र उन्हें काट न सके। पूज्य पिताजी भी देवराज इंद्र से आपकी सहायता के लिए प्रार्थना करेंगे।

''अब आप शीघ्र ही युद्ध की तैयारी कीजिए। कल प्रातःकाल ही मैं अभिमंत्रित करके आपके अस्त्रों को दिव्यास्त्र बना देता हूं। आपकी विजय निश्चित होगी।''

दोनों राजा रात को ही युद्ध की तैयारी में लग गए। सेना को एकत्रित कर लिया गया। शस्त्रागार से शस्त्र निकाल लिए गए।

ऋषि पायु गंगाजल और कुश लेकर शस्त्रागार के सामने खड़े हो गए। वे ऋग्वेद के प्रसिद्ध विजय सूक्त 'जीमूतस्य' (6/75/1) से आरंभ कर अंतिम आशीर्वचन सहित 19 ऋचाओं का पाठ कर, एक-एक शस्त्र को अभिमंत्रित कर उन्हें दिव्यास्त्र बनाने लगे।

इस प्रकार वे सभी शस्त्र देवता बन गए। पायु ऋषि ने उन देवों की स्तुति भी की। इस प्रकार सभी युद्धोपकरण, कवच-सहित योद्धा, धनुष, प्रत्यंचा, धनुष की कोटियां, तरकश, सारथी और वल्गाएं, अश्व, आयुधागार रक्षक, रणदेवता, बाण, कवच, कशा, हस्तत्राण, धनुर्युक्तबाण, युद्धारंभ में कवच बांधने वाला एवं युयुत्सु—सभी दिव्य कोटि में आ गए और अमोघ हो गए।

सारी तैयारी कर ऋषि ने आदेश दिया, ''राजन्! आपके शत्रु विजयोन्माद में निश्चिंत होकर सोए हुए हैं। यही शुभ अवसर है। अतः तुरंत युद्ध का नगाड़ा बजा दिया जाए।''

और...

अगले ही दिन—

हरियूपिया नदी के तट पर।

राजा अभ्यावर्ती और प्रस्तोक ने अपनी पूरी सेना और अभिमंत्रित शस्त्रास्त्र-सहित असुरों पर धावा बोल दिया।

घमासान युद्ध हुआ। शत्रु वास्तव में बहुत प्रबल था, किंतु अमोघ अस्त्रों के सामने टिक नहीं पा रहा था।

उधर अकस्मात् अंतरिक्ष से देवराज इंद्र भी उतर आए और वारशिख असुरों का संहार करने लगे। यह दृश्य देखकर असुर पूरी तरह घबरा गए। उन्होंने भागने का प्रयास किया, किंतु राजसेना और इंद्र ने उन्हें वहीं काट डाला।

शत्रु परास्त हुआ।

इंद्र के सहयोग से दोनों राजाओं की विजय हुई।

देवराज इंद्र ने उनकी छीनी हुई संपदा उनको वापस दिलवा दी। दोनों राजाओं ने देवेंद्र की स्तुति की। और इस संपदा का विपुल भाग गुरु भरद्वाज के चरणों में रख दिया।

दोनों राजा विजयी होकर प्रसन्नचित्त अपने घर लौटे।

# शुनःशेप की मुक्ति

भृगुकुल में जन्मे ऋषि आजीगर्ति के मझले पुत्र शुनःशेप। विद्वान् और सुक्त-द्रष्टा। हृष्ट-पुष्ट, मांसल दमकती देह।

यजमान ने उसे बलि के निमित्त चुना है। वह यज्ञीय यूप में बंधा है। उसे पवित्र हवन-सामग्री माना गया है— एक श्रेष्ठ हवि। उसे लपलपाती यज्ञाग्नि में स्वाहा करने में लोक का कल्याण है!

यज्ञशाला में श्रेष्ठ ऋषि, मुनि, देव, मानव, यजमान, पुरोहित सभी एकत्रित हैं। वेद-मंत्रों का सस्वर उच्चारण हो रहा है। सुगंधित सामग्री घृत के साथ यज्ञकुंड में डाली जा रही है। ऐसी सुंदर बलि को पाकर यजमान प्रसन्न है। इस बलि से उसकी सभी आकांक्षाएं पूर्ण होंगी। यज्ञ में सम्मिलित सभी श्रेष्ठ जन आनंदित हैं। उन्हें भी यज्ञ-शेष प्राप्त होगा।

और शुनःशेप।

यूप के साथ पाश में जकड़ा— निस्सहाय। सब लोगों की आंखों में तृषित-सा झांकता। शायद किसी की आंखों में उसके लिए थोड़ी-सी करुणा की झलक मिले। किंतु सबकी आंखों में उसे अपनी मृत्यु के ही दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, उसकी मृत्यु लोगों के लिए आनंददायक बन रही है! उसकी मृत्यु में एक कुतूहल और उल्लास छिपा हुआ है।

मानव-देह के प्रति इतनी निर्दयता? इतनी कठोरता? उसके विनाश में लोगों का निर्माण? उसके दुःख में लोगों का सुख? उसकी मृत्यु में लोगों को इतना रस? क्या सभी देव, ऋषि, मनुष्य इतने स्वार्थी हो गए हैं? हो गए हैं या सदा से ही स्वार्थी हैं? क्या मुझे अभी ज्ञान हो पाया है इस सत्य का? क्या असहाय अवस्था में ही मनुष्य का ज्ञान परिपक्व होता है?

अभी तक तो सुना ही था कि शरीर नश्वर है। शरीर क्या, यह

घमासान युद्ध हुआ। शत्रु वास्तव में बहुत प्रबल था, किंतु अमोघ अस्त्रों के सामने टिक नहीं पा रहा था।

उधर अकस्मात् अंतरिक्ष से देवराज इंद्र भी उतर आए और वारशिख असुरों का संहार करने लगे। यह दृश्य देखकर असुर पूरी तरह घबरा गए। उन्होंने भागने का प्रयास किया, किंतु राजसेना और इंद्र ने उन्हें वहीं काट डाला।

शत्रु परास्त हुआ।

इंद्र के सहयोग से दोनों राजाओं की विजय हुई।

देवराज इंद्र ने उनकी छीनी हुई संपदा उनको वापस दिलवा दी। दोनों राजाओं ने देवेंद्र की स्तुति की। और इस संपदा का विपुल भाग गुरु भरद्वाज के चरणों में रख दिया।

दोनों राजा विजयी होकर प्रसन्नचित अपने घर लौटे।

# शुनःशेप की मुक्ति

भृगुकुल में जन्मे ऋषि आजीगर्ति के मझले पुत्र शुनःशेप। विद्वान् और सूक्त-द्रष्टा। हृष्ट-पुष्ट, मांसल दमकती देह।

यजमान ने उसे बलि के निमित्त चुना है। वह यज्ञीय यूप में बंधा है। उसे पवित्र हवन-सामग्री माना गया है— एक श्रेष्ठ हवि। उसे लपलपाती यज्ञाग्नि में स्वाहा करने में लोक का कल्याण है!

यज्ञशाला में श्रेष्ठ ऋषि, मुनि, देव, मानव, यजमान, पुरोहित सभी एकत्रित हैं। वेद-मंत्रों का सस्वर उच्चारण हो रहा है। सुगंधित सामिग्री घृत के साथ यज्ञकुंड में डाली जा रही है। ऐसी सुंदर बलि को पाकर यजमान प्रसन्न है। इस बलि से उसकी सभी आकांक्षाएं पूर्ण होंगी। यज्ञ में सम्मिलित सभी श्रेष्ठ जन आनंदित हैं। उन्हें भी यज्ञ-शेष प्राप्त होगा।

और शुनःशेप।

यूप के साथ पाश में जकड़ा— निस्सहाय। सब लोगों की आंखों में तृषित सा झांकता। शायद किसी की आंखों में उसके लिए थोड़ी-सी करुणा की झलक मिले। किंतु सबकी आंखों में उसे अपनी मृत्यु के ही दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, उसकी मृत्यु लोगों के लिए आनंददायक बन रही है। उसकी मृत्यु में एक कुतूहल और उल्लास छिपा हुआ है।

मानव-देह के प्रति, इतनी निर्दयता? इतनी कठोरता? उसके विनाश में लोगों का निर्माण? उसके दुःख में लोगों का सुख? उसकी मृत्यु में लोगों को इतना रस? क्या सभी देव, ऋषि, मनुष्य इतने स्वार्थी हो गए हैं? हो गए हैं या सदा से ही स्वार्थी हैं? क्या मुझे सभी [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] अवस्था में ही [illegible] [illegible] [illegible] परिपक्व

जगत् ही नश्वर है। इसके प्रति मोह नहीं करना चाहिए। किंतु आज पहली बार उसे यह शरीर और अधिक सुंदर लगने लगा है। जब तक वह शरीर-सुरक्षा के प्रति आश्वस्त था, तब तक इसके विषय में कभी इतनी गहराई से सोचा ही नहीं। अब जब कि यह असुरक्षित हो गया है, इसके प्रति मोह जागा है। यह सुंदर युवा देह क्या अग्नि की भेंट चढ़ने के लिए है? और क्या यह हाड़-मांस की देह ही है? इसमें उठती भावनाओं की उत्ताल तरंगें; अनंत कामनाओं के बहते झरने, महत्त्वाकांक्षाओं के उत्तुंग शृंग, यह साधना, यह तपस्या, ये प्रार्थनाएं, यज्ञ, मंत्र, क्या ये सब व्यर्थ हैं? यह इतना सुंदर जगत् क्या मेरे लिए सदा-सदा के लिए मिट जाएगा। क्या अब मैं कभी भी उगते हुए सूर्य की अरुणाई, असंख्य तारों से घिरे पूनम के चंद्रमा, आकाश में उमड़ते-घुमड़ते वर्षा के मेघों के बीच बसंत में खिलते रंग-बिरंगे फूलों, झूलों पर मंडराते भौरों की पांतियों, और यज्ञवेदी से उठते सुगंधित धूम्र को कभी नहीं देख पाऊंगा?

नहीं! मैं अपने साथ ऐसा नहीं होने दूंगा। हे देवो! मेरी रक्षा करो। मैंने आपके बहुत गीत गाए हैं। यज्ञ में आपके नाम की बहुत आहुतियां दी हैं। आपका आह्वान किया है। आपको सदा ही श्रेष्ठ और उच्च माना है। मेरे नष्ट हो जाने से आपको कोई लाभ नहीं मिलेगा। मेरी रक्षा करो, देव! मेरी रक्षा करो। शुनःशेप कातर हो गया और करुण वाणी में क्रंदन करने लगा।

उसकी यह दशा देखकर यज्ञ में उपस्थित लोग उसके प्रति तिरस्कार-भरी दृष्टि से देखने लगे—कायर कहीं का! बलि होने से डरता है। देवों के कार्य में विघ्न उत्पन्न करता है! इस क्षण-भंगुर शरीर से इतना मोह करता है! अरे! देवकार्य में तो स्वयं को प्रसन्नता से विसर्जित कर देना चाहिए। यह तो स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करता है। यही तो मनुष्य मात्र का धर्म है। इस देह को तो एक दिन अग्नि में वैसे भी जलना ही है! फिर यह देह यज्ञ की श्रेष्ठ आहुति बन जाए, इससे अच्छा और क्या है? देव प्रसन्न होंगे और समस्त लोक का कल्याण होगा।

लोग उसका मरण-उत्सव देखना चाहते थे। उसके भुनते हुए रक्त-मांस-मज्जा की गंध लेने को आतुर थे। उसके शरीर-शेष का

प्रसाद पाना चाहते थे। उसके विनाश में वे अपना कल्याण चाहते थे।

शुनःशेप अपनी रक्षा को आतुर था। वह इस तरह मरना नहीं चाहता था। किसी का मरना लोगों के विषाद का कारण होना चाहिए, किंतु यहां तो उसका मरण लोगों के आनंद का कारण है! क्या वह इतना तिरस्कृत हो गया है? मनुष्य और देव उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे। आज अपने स्वार्थ में वे सब कुछ भूल गए हैं? क्या लोगों की प्रशंसा झूठी होती है?

क्या लोगों को दिया गया मान-सम्मान सब व्यर्थ और क्षणिक ही होता है? यदि उनका मान-सम्मान मिथ्या है तो उनका दिया हुआ अपमान भी मिथ्या ही है। जिनकी आंखों में मेरे प्रति कभी आदर-सम्मान का भाव होता था, आज वही तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं। जब दोनों ही मिथ्या हैं तो मैं इनके तिरस्कार की भी क्यों चिंता करूं? मैं इनके आनंद की भी क्यों चिंता करूं? मुझे तो बस, अपने जीवन की चिंता करनी है। और उसे बचाने के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूं...

किंतु पाश में जकड़ा हुआ एक असहाय व्यक्ति भला कर भी क्या सकता है...हां, कर सकता है! वह प्रार्थना कर सकता है और वही मैं भी करूंगा...

और शुनःशेप धीरे-धीरे मंत्र फुसफुसाने लगा—

हे वरुणदेव! आपके चरणों में प्रणाम। यज्ञ और आहुतियां आपके क्रोध को शमित करें। आप शक्तिशाली सर्वज्ञाता और सौभाग्यदाता हैं। मेरे पास आकर मेरे द्वारा कृत पापकर्मों से मुझे मुक्त कीजिए।

हे वरुणदेव! आप निष्ठावान यजमान की साधारण-सी छवि का भी त्याग नहीं करते। आप आकाशगामी पक्षियों के मार्ग से परिचित हैं और स्वयं भी सीमाहीन समुद्र के ऊपर से उड़े चले जाते हैं। समुद्रगामी पोतों के मार्गों को जानते हैं। आप बारह मास से अधिक मास को जानते हैं। विस्तृत, उच्च और विशाल वायुमार्ग का भी आपको ज्ञान है। आप अघटित और घटित घटनाओं के ज्ञाता हैं।

हे वरुणदेव, आप प्रसन्न होइए। मेरी पुकार सुनिए। आप परम मेधावी हैं, आप आकाश, पृथ्वी और पूरे विश्व में प्रकाशमान हैं। आप

मुझे मुक्त कीजिए, मुझे मुक्त कीजिए...''

फिर शुनःशेप ने अग्नि देव की स्तुति की—

''हे अग्नि, आप सतत युवा हैं। तेजस्वी हैं। आप अपने पुत्र के स्नेही पिता हैं। आप श्रेष्ठ संबंधों का आदर करते हैं। आप मित्र के हितैषी हैं। हम आपको सादर हवि देते हैं।

''हे अग्ने! आप अयालों वाले अश्व के तुल्य हैं। आप यज्ञों के सम्राट् हैं। मैं स्तुतियों द्वारा आपका पूजन करता हूं। हे विस्तीर्ण, गतिमान, सौभाग्यदायक अग्नि, हमारे अभीष्ट के सिद्धिदायक होइए। मेरे इस नवीन स्तोत्र को देवताओं के सम्मुख भली प्रकार प्रस्तुत कीजिए।

''हे चित्रभानु! आप समुद्र की मर्यादा में प्रवाहित जलतुल्य यजमान के लिए प्रवहमान होइए। हे जराबोध! रूद्र के निमित्त हमें सुंदर, स्तोत्रों से प्रेरित कीजिए।

फिर शुनःशेप ने इंद्र एवं सोम की स्तुति की।

''जिस स्थान पर सोम निष्पन्न करने के निमित्त कठोर पत्थर उठाया जाता है, वहां उलूखल के स्वर को सुनकर पवित्र सोम का आप सेवन कीजिए। हे इंद्र! जहां पर युवतियों की स्थूल जंघाओं के समान सोम कूटने के दो फलक रखे हैं, वहां उलूखल के सुस्वर को सुनते हुए आकर सोमपान कीजिए।

''हे इंद्र, जहां नारियां उलूखल में सोमरस तैयार करने का अभ्यास करती हैं, वहां उलूखल के शब्द को सुनकर, उनके पास जाकर आप सोमरस का पान कीजिए। हे उलूखल! आप प्रत्येक घर में विद्यमान हैं। आप विजय-दुंदुभि के समान इस यज्ञभूमि में नाद कीजिए।

''ओ वनस्पते! ओ वनदेव! जब वायु मंद गति से तुम्हारे सामने बहती है, उस समय हे उलूखल! इंद्र के पान निमित्त सोम सिद्ध करें। हे मृणालस्वरूप वनस्पते! मधुर सोम को इंद्र के लिए निष्पन्न कीजिए। निष्पीड़ित सोमरस को पात्र से निकालकर पवित्र कुश पर छिड़किए, अवशेष गोचर्मपात्र में रख दीजिए।''

शुनःशेप ने देवराज इंद्र की स्तुति की—

''हे सोमपायी इंद्र! मैं यहां निराश और विवश बंधा हूं। हे शांतिमान

इद्र आपकी करुणा का मैं आकांक्षी हूं। हमारे शत्रु निद्रामग्न रहें। मित्र चैतन्य रहें। हमारे इस गंधर्वतुल्य शत्रु का नाश कीजिए! जो भी हमारे लिए अशुभ की आकांक्षा रखते हैं, उनका वध कीजिए।

इंद्र को हम सोम तथा जल से सिंचित करते हैं। जो इंद्र को प्रसन्न करना चाहते हैं, निम्नगामी जल के समान उनका यहां आगमन हो। जिस प्रकार कपोत अपनी गर्भिणी कपोतिनी को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इंद्र सोम और हमारी वाणी को आप प्राप्त करें।

हे इंद्र! क्या आपको स्मरण है कि मेरे पिता ने पूर्वकाल में आपका स्मरण किया था! मैं भी अपने पूर्वजों के समान आपका आह्वान करता हूं। आप मित्रों के परम मित्र हैं। अपनी इच्छापूर्ति निमित्त लोग सदैव ही आपका स्तवन करते हैं।''

शुनःशेप ने करुण वाणी में इंद्र की स्तुति की और उन्हें अंजलिबद्ध प्रणाम किया।

इंद्र की प्रेरणा से अग्नि ने तुरंत आकर शुनःशेप को यूप के बंधन से मुक्त कर दिया। इंद्र भी वहीं उपस्थित हो गए और बोले, ''हे शुनःशेप! हे सूक्त-द्रष्टा! हम तुम्हारी स्तुतियों से प्रसन्न हैं। यह लो, यह दिव्य हिरण्यमय रथ तुम्हारे लिए है।''

# मंत्र-द्रष्टा श्यावाश्व

गोमती का सुंदर तट।

नदी का कल-कल राग दूर तक फैली पर्वत-शृंखलाओं में प्रतिध्वनित करता हुआ आकाश में विलीन हो जाता।

नदी के दोनों कूलों पर खड़ी घनी पादप-राशि और उनमें से गुजरता सायं-सायं की ध्वनि करता पवन जीवंतता में भी नीरवता भर रहा था।

कहीं पर बगुलों की टोली नदी के जल के ऊपर से तैरती हुई दूर तक निकल जाती। कभी थोड़ी-सी आहट पर किसी वृक्ष की डाली से अचानक कौवों की पांति आकाश में उड़ जाती। किसी किनारे पर हिरणों का झुंड भीत-सा पानी पीता हुआ दिखाई दे जाता।

नदी के किनारे से एक पगडंडी पर्वत की ओर टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ रही है। यह पगडंडी महर्षि अत्रि के पुत्र अर्चनाना के आश्रम पर जाकर समाप्त होती है। इसी शांत वातावरण में, इसी पगडंडी पर आश्रम की ओर बढ़े जा रहे हैं राजा रथवीति।

उन्होंने आश्रम के द्वार पर अपना अश्व पेड़ से बांध दिया और आश्रम में प्रवेश किया।

बहुत बड़ी यज्ञशाला में ऋषि अर्चनाना अपने सब शिष्यों के साथ यज्ञ कर रहे थे? एक संग शत-शत कंठों से उठता वेदमंत्रों का मधुर राग पृथ्वी-आकाश को जोड़े हुए था। आरोह में लगता जैसे मंत्र-ध्वनि पर्वत की गुहा से निकलकर अंतरिक्ष के छोर तक जा रही है और अवरोह में प्रतीत होता जैसे वही ध्वनि दूर अंतरिक्ष से आकर धरती में समा रही है।

कभी लगता जैसे नदी की ताल में ताल मिलाकर मंत्रों की नाव लहरों पर इठलाती-नाचती जा रही है। रुक-रुककर 'स्वाहा' की ध्वनि जैसे नाव के चप्पू छप्प से जल पर पड़ रहे हैं। सुगंधित यज्ञ-धूम्र से

आश्रम का कोना-कोना महक रहा है। आश्रम के पेड़-पक्षी, भ्रमर-तितली, फूल-पत्ते सभी जैसे संन्यासियों के स्वर में स्वर मिलाकर वेद-पाठ कर रहे हैं।

राजा रथवीति यज्ञशाला में ही एक संन्यासी के समीप मौन होकर बैठ गए। उनका मन मंत्रों के संग-संग हिलोरें लेने लगा। उनके नेत्र बंद हो गए।

यज्ञ पूर्ण हुआ।

एक-एक कर सभी उठकर जाने लगे।

तभी ऋषि अर्चनाना की दृष्टि, नेत्र बंद करके शांत भाव से बैठे राजा रथवीति पर पड़ी। उन्होंने पहचान लिया।

बोले, "राजन्!"

राजा का ध्यान भंग हुआ। सामने ऋषि को खड़े देख श्रद्धा से हाथ जोड़ लिए।

अर्चनाना ने हाथ पकड़कर उन्हें उठाया।

मेरा अहोभाग्य आज मुझे यहां खींच लाया, महर्षि! आपका दर्शन पाकर कृतार्थ हुआ।" रथवीति ने विनम्र भाव से बद्धांजलि होकर कहा।

आप तो स्वयं भी राजर्षि हैं। आपने पधारकर मेरे आश्रम को पवित्र किया है, राजन्।"

यह आश्रम तो आपकी तपोभूमि है, महर्षि! आपका तप ही यहां साक्षात् फलीभूत हुआ है। आप सूक्त-द्रष्टा हैं। यहां के कण-कण में आपका मनोभाव मुखरित हो रहा है। ऐसी परम शांति भला और कहां?"

हमारे पास शांति के अतिरिक्त और है भी क्या, राजर्षि? यह शांति ही तो हमारी संपदा है।"

इससे अधिक और चाहिए भी क्या? वही तो अंतिम कामना है।

कुछ देर रुककर राजा रथवीति फिर बोले, "मन में एक इच्छा जगी है महर्षि-"

कहें राजन्, आपकी [illegible]

मेरे महल में भी हो—सादा होते हुए भी इतना ही भव्य। लय-बद्ध वेदमंत्रों का साक्षात् प्रकटन। परम शांतिदायक।''

''यह तो अति उत्तम इच्छा है, राजन्! कल्याणकारी है।''

''उसके लिए मैं आपको ही कष्ट दूंगा, महर्षि।''

''वह तो मेरा सौभाग्य होगा। कब आयोजन का विचार है?''

''शुभस्य् शीघ्रम्। आगामी मास मुझे कहीं प्रयाण नहीं करना है। अत: उसी मास की पूर्णमासी को हो जाए तो अति उत्तम होगा।''

राजा रथवीति ने बड़े ही विनम्र भाव से याचना-सी की।

''निश्चित रूप से हो जाएगा, राजन्! मैं ऋषिकुमार और शिष्यों को लेकर समय पर आपके आवास पर पहुंच जाऊंगा।''

''आपकी महती कृपा होगी, महर्षि।''

राजा रथवीति प्रणाम करके चले गए।

राजा रथवीति का विशाल महालय। उसके विस्तृत प्रांगण में शास्त्रीय साज-सज्जा से एक भव्य अस्थायी यज्ञ-मंडप का निर्माण किया गया।

राजा पूरे राजपरिवार सहित मंडप में बैठे हैं। मंडप के चारों ओर राज्य के विशिष्ट व्यक्ति, मंत्री एवं राजपुरोहित उपस्थित हैं। राजा के एक ओर राजमहिषी और दूसरी ओर राजकुमारी विराजमान है जो अपने रूप-लावण्य में अद्वितीय है।

महर्षि अर्चनाना ऋत्विज बनकर आए हैं। उनके साथ आए हैं महर्षि अर्चनाना का पुत्र श्यावाश्व एवं बारह अन्य वेदज्ञ शिष्य। सभी वेदज्ञ होने के साथ-साथ संगीत-विशारद भी हैं।

यज्ञ-प्रारंभ हुआ। सस्वर वेदमंत्र बोले जाने लगे।

रथवीति मात्र राजा ही नहीं, राजर्षि भी थे। वेद-विद्या भलीभांति जानते थे। वे भी ऋषियों के साथ स्वर में स्वर मिलाकर मंत्रगान कर रहे थे। राजपुरोहित भी पीछे नहीं थे।

यज्ञकुंड में हवि डाली जाने लगी। श्रुवा से भर-भरकर गोघृत-धारा की आहुति दी जाने लगी। यज्ञ-ज्वाला आकाश को छूने लगी। सुगंधित धूम्र यज्ञ-मंडप से निकलकर पूरे महालय में फैलने लगा।

सभी उपस्थित विशिष्ट व्यक्ति अपने भावों को मंत्रों के भावों के

साथ एकमेक कर रहे थे। देवों का आवाहन हो रहा था। कभी अग्निदेव की स्तुति, कभी वरुणदेव की। इंद्र, बृहस्पति, मरुद्गण, आदित्य आदि सभी देवों के आह्वान के मंत्र गाए गए।

ऋषिकुमार श्यावाश्व कभी उच्च स्वर में मंत्र बोलता और कभी बिलकुल मौन हो जाता। पिता महर्षि अर्चनाना ने देखा कि उसकी दृष्टि सामने बैठी राजकुमारी पर पड़ रही है। वह सतत उसी की ओर देखे जा रहा है। रूपवती राजकुमारी का यौवन वस्त्रों के बंधन को तोड़कर मुक्त हुआ जाता है। मन के ताप ने उसकी मुख-कांति को कई गुना बढ़ा दिया है। उसका मादक देह-लावण्य झीने वस्त्रों से छन-छनकर ऋषिकुमार को आकर्षित कर रहा है।

जब श्यावाश्व टकटकी बांधकर राजकुमारी को निहारने लगता तो मंत्र गायन बंद हो जाता और जब चेतना आती तो वह एकाएक उच्च स्वर में मंत्रोच्चार करने लगता। कभी-कभी इधर-उधर देखकर वह लज्जित भी हो जाता। सच बात यह है कि स्वयं राजकुमारी भी अर्द्धनिमीलित नेत्रों से ऋषिकुमार को ही ताके जा रही थी। यज्ञ चल रहा था। असंख्य स्वर मिल रहे थे। साथ ही दो युवा दृष्टियां भी उपस्थित समूह से बच-बचाकर मिल रही थीं।

अंततः यज्ञ समाप्त हुआ।

सभी उठकर अपने-अपने स्थान को चले गए। राजा रथवीति यज्ञ की सफल पूर्णता पर बहुत प्रसन्न एवं संतुष्ट हुए। उनकी दृष्टि अकस्मात् वहीं बैठे ऋषिकुमार श्यावाश्व पर पड़ी। वह अभी तक उसी ओर एकटक देखे जा रहा था, जिधर राजकुमारी अभी-अभी उठकर राजमाता के साथ महालय में गई थी।

राजा ने उसकी स्थिति देखी।

बड़े प्रेम और आदर के साथ पूछा, "किसे देख रहे हैं, ऋषिकुमार? क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

श्यावाश्व का ध्यान भंग हुआ। वह महाराज की ओर देखने लगा।

"किसकी प्रतीक्षा है, ऋषिकुमार?"

"राजकुमारी की।" श्यावाश्व ने दृष्टि झुकाते हुए कहा।

"क्या कहा, ऋषिकुमार? राजकुमारी की प्रतीक्षा है?"

''हां, राजर्षि, मुझे राजकुमारी की चिर प्रतीक्षा है। वह मुझे विकल छोड़कर महालय में चली गई हैं। उनका स्थान महालय नहीं, ऋषि का आश्रम है। मैं उनसे विवाह करूंगा, महाराज!''

श्यावाश्व एक ही श्वास में इतना कुछ बोल गया। उसकी दृष्टि झुक गई। वह अपने कहे पर कुछ लजा भी रहा था।

उसे आश्चर्य भी हुआ कि वह इस सत्य का उद्घाटन राजा रथवीति के समक्ष इतनी सहजता से कैसे कर गया।

महाराज रथवीति ऋषिकुमार को नए सिरे से देखने लगे जैसे उसे अभी-अभी प्रथम बार देख रहे हों।

सुंदर नयन-नक्श। वृषभस्कंध। उच्च ग्रीवा। चौड़े ललाट पर सूर्य-सा दमकता चंदन लेप। पुष्ट भुजाओं पर बंधे मंत्र-सिक्त श्याम-सूत्र। नवनीलनीरज-सी दो सुंदर आंखें। गौरवर्ण। मधुमिश्रित मीठी वाणी। वेदज्ञ ऋषि। क्या हानि है ऐसे युवक को जामाता बनाने में!

राजा रथवीति ने जैसे मन ही मन उसे जामाता स्वीकार कर ही लिया।

वे ऋषिकुमार को वहीं बैठा छोड़कर रानी के पास चले आए। उनसे इस विषय में परामर्श लेना आवश्यक समझा।

''मैंने राजकुमारी के लिए योग्य वर ढूंढ़ लिया है, महारानी। आप उसके लिए चिंतित रहती थीं न? लगता है, यज्ञ का फल प्रत्यक्ष मिल गया है।''

''यज्ञ का फल? योग्य वर? इस समय कैसी बातें कर रहे हैं, महाराज? आप तो कहीं गए नहीं, फिर वर कहां से ढूंढ़ लिया?'' महारानी ने आश्चर्य से पूछा।

''वर यहीं हमारे महालय में ही आ गया है, महारानी। उसको आपने भी देखा है! वही महर्षि अर्चनाना का पुत्र ऋषि श्यावाश्व।''

''महर्षि-पुत्र? नहीं, नहीं महाराज! वह योग्य वर नहीं है।''

''क्यों? क्या कमी है उसमें? वह स्वयं ऋषि है। ऋषि अर्चनाना का पुत्र है। और महर्षि अत्रि का पौत्र है। और क्या चाहिए? राजकुमारियां ऋषिकुमारों से प्राचीन समय से ही ब्याही जाती रही हैं। फिर इसमें क्या बाधा है?''

"वह ऋषि है, किंतु मंत्र-द्रष्टा नहीं है, महाराज। ऋषि की सार्थकता परसंचित मंत्र रटने और गाने में नहीं, बल्कि स्वयं मंत्र-द्रष्टा होने में है।" महारानी ने समझाते हुए कहा।

"किंतु समय आने पर यह भी हो जाएगा। अभी उसकी अवस्था ही कितनी है?"

"ज्ञान की कोई अवस्था नहीं होती, महाराज। ज्ञान के बिना व्यक्ति अधूरा है। ऋषि तो और भी अधूरा है। आप राजर्षि हैं। मैं भी राजर्षि की पुत्री हूं। मैं चाहती हूं कि हमारी पुत्री किसी ऐसे योग्य वर के साथ जाए जो स्वयं मंत्र-द्रष्टा हो।"

"किंतु वह एक स्वनामधन्य वंश का..."

"वंश का ज्ञान स्वयं वंशजों में नहीं आता। यदि दादा ने ईश्वर-दर्शन किए हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि पौत्र को भी दर्शन स्वयं ही हो गए होंगे। यह संपदा तो किसी भी व्यक्ति को स्वयं ही अर्जित करनी पड़ती है।"

रानी ने इस प्रस्ताव को बिलकुल ही अस्वीकार कर दिया।

महाराज रथवीति मंथर गति से चलकर ऋषिकुमार श्यावाश्व के समीप आए। उसके पिता अर्चनाना भी वहीं बैठे थे। और श्यावाश्व ने संकोच करते हुए सारी घटना पिता को भी बता दी थी। पिता को भी पुत्रवधू के रूप में राजकुमारी पसंद थी। वह उसे यज्ञ-मंडप में देख चुके थे। उन्हें लगा कि यदि राजकुमारी उनकी पुत्रवधू बनकर आ जाए तो उनके आश्रम की श्रीवृद्धि ही होगी।

रथवीति के आने पर अर्चनाना ने ही प्रश्न किया, "क्या निर्णय किया, राजन्?"

"महारानी ने अस्वीकार कर दिया।"

"किंतु क्यों? क्या श्यावाश्व में कोई कमी है?"

"हां।"

"क्या?"

"वह स्वयं मंत्र-द्रष्टा नहीं है और मेरी पुत्री का विवाह किसी समर्थ राजकुमार से या किसी मंत्र-द्रष्टा ऋषि से ही हो सकता है।"

सुनकर पिता-पुत्र दोनों को अत्यंत दुःख हुआ जैसे उनका कोई

मीठा स्वप्न खंड-खंड हो गया हो। वे अनमने-से आश्रम में लौटे।

यद्यपि राजा रथवीति ने उनको दक्षिणास्वरूप एक सौ दुधारू गौएं, दो अश्व, एक हजार निष्क (स्वर्ण-मुद्राएं) और बहुत-सा खाद्यान्न भेंट किया था, किंतु उनको राजकुमारी के न मिलने का अत्यंत खेद रहा।

आश्रम में आकर श्यावाश्व एकांतवासी हो गया। वह यज्ञों से अनुपस्थित रहने लगा। किसी से वार्तालाप नहीं करता। जो आश्रम उसे अमरावती के समान सुखकर लगता था, अब वह वीराना-सा नजर आने लगा था।

उसके तन-मन में राजकुमारी की छवि बस गई थी। वह जिस ओर जाता उसे सर्वांगसुंदरी राजकुमारी बैठी दृष्टिगोचर होती। पेड़ों में पत्तों में, झरने पर, यज्ञ-मंडप में, कुटिया में—सर्वत्र राजकुमारी की आमंत्रण देती-सी निमल आंखें ही दिखाई पड़तीं। श्यावाश्व की आंखों से निद्रा रूठकर कहां दूर चली गई। न वह जाग्रत होता, न ही सुप्त।

धीरे-धीरे वह विरक्त-सा होता गया। सारा संसार उसे असार नजर आने लगा। वह घंटों तक नेत्र बंद करके बैठा रहता। धीरे-धीरे ध्यान लगने लगा। अंतस्तल में बैठी राजकुमारी की मूर्ति मिटने लगी और वहां शून्य व्याप्त होने लगा। ध्यान की अवधि बढ़ने लगी। मन विचार-शून्य होता गया।

और फिर भीतर के तमस् में सहसा एक तीव्र प्रकाश ने प्रवेश किया जैसे शत्-शत् सूर्य प्रकाशमान हो गए हों। अंतरिक्ष से एक ऊर्जा उतरी और...और...और...श्यावाश्व के ओष्ठ हिलने लगे। नवमंत्र झरने की तरह फूट पड़े।

मरुद्गणों की स्तुति होने लगी—

मरुद्गण! तुम्हारी व्याप्ति सर्वत्र है! तुम श्येन पक्षी पर सवार होते हो अपने अश्वों को तीव्रगामी बनाने के लिए तुम उनके जघन पर चाबुक से स्पर्श करते हो। तुम अपने अश्वों को द्रुतगामी करने के लिए उनके जघनों को विस्तृत करते हो। हे शत्रुनाशन! वीरवर, मंगलप्रिय, भद्रजन्य मरुद्गण! अग्नि में तप्त ताम्रपात्र-तुल्य तुम्हारा वर्ण शोभनीय है।

जो शीघ्रगामी अश्वों पर चलते हैं, जो मदिर मधु का पान करते हैं जो विविध प्रकार की स्तुतियों को स्वीकार करते हैं, उन मरुद्गणों

का शुभ आगमन हो।''

श्यावाश्व के सूक्तों से मरुद्‌गण प्रसन्न हुए। वे तुरंत प्रकट हो गए।

''आंखें खोलो, श्यावाश्व।'' मरुत् ने प्रेम-भरे स्वर में श्यावाश्व को पुकारा।

''मैं हूं, मरुत्! तुम्हारी स्तुति से मैं प्रसन्न हुआ। तुम मंत्र-द्रष्टा ऋषि प्रमाणित हुए। देवों की तुम पर कृपा है। मांगो, क्या मांगते हो?''

श्यावाश्व ने नतमस्तक होकर मरुत् देव को प्रणाम किया।

''अब और क्या चाहिए, देव! आपका दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो गया, मैं धन्य हुआ।''

''किंतु तुम्हारे मन में अभी एक उत्कट कामना दबी पड़ी है। उसे प्रकट करो, भद्र!''

और तुरंत श्यावाश्व को राजकुमारी स्मरण आ गई। उसकी मोहिनी मूर्ति फिर आमंत्रण-सा देने लगी।

वह बोला, ''यह प्रमाण राजा रथवीति तक पहुंचा दें, देव कि मैं मंत्र-द्रष्टा हो गया हूं, ताकि वह अपनी पुत्री का विवाह मुझसे कर दें।''

''तुम निश्चिंत रहो, ऋषिकुमार! ऐसा ही होगा।''

राजा रथवीति अपनी रानी के साथ उद्यान में बैठे अपनी पुत्री के विवाह की चिंता कर रहे थे। पुत्री हर दृष्टि से विवाह योग्य हो गई है, अब तो यह कार्य हो ही जाना चाहिए।

तभी पवन का एक तेज झोंका आया। महाराज का उत्तरीय उड़कर दूर जा गिरा और रानी का आंचल वक्ष से सरक गया। और इसी क्षण सामने एक देव प्रकट हुआ—दिव्य वेश, दिव्य आभूषणों से अलंकृत। दमकती देह से रश्मियां-सी फूट रही थीं। चारों ओर एक विचित्र प्रकाश फैल गया।

राजा रथवीति और राजमहिषी विस्फारित नेत्रों से उस दिव्य आगंतुक को देखते रहे।

''मैं मरुत् देव हूं, राजा रथवीति!''

[illegible] उठकर अपना सिर मरुत् दे[illegible] के चरणों [illegible]

[illegible] राजमहिषी ने भी हाथ जोड़कर [illegible] किया।

"मैं एक शुभ समाचार लाया हूं, राजन्!"

"आपका आगमन ही शुभ का सूचक है, देव। यह हमारे भाग्योदय का परिचायक भी है। आदेश दें, देव!"

"महर्षि अर्चनाना के पुत्र ऋषिकुमार श्यावाश्व को मंत्रों का दर्शन हो गया है। अब वह स्वयं भी मंत्र-द्रष्टा ऋषि है। उसने देवों की स्तुतियों में अनेक सूक्त रचे हैं। अतः अपने वचनानुसार, अब तुम अपनी पुत्री का विवाह श्यावाश्व के साथ कर दो, इसी में मंगल है। वह एक सुयोग्य और सर्वगुणसंपन्न वर सिद्ध होगा।"

रथवीति ने रानी की ओर देखा। रानी ने प्रसन्न होकर संकेत से 'हां' कर दी।

"जो आज्ञा, देव। ऐसा ही होगा। आपने हमें भारमुक्त कर दिया।"

और मरुत् देव अंतर्धान हो गए।

दोनों ने पुनः करबद्ध होकर अदृश्य मरुत् देव को प्रणाम किया।

राजा रथवीति शीघ्र ही राजमहिषी एवं पुत्री राजकुमारी के साथ अनेक स्वर्णमंडित गौ, रथ, अश्व और विविध प्रकार के खाद्यान्न लेकर महर्षि अर्चनाना के आश्रम में पहुंचे।

महर्षि को बद्धांजलि प्रणाम करके वह बोले, "हमारी त्रुटि क्षमा करें, क्षमाशील वेदज्ञ महर्षि! विलंब से ही सही, किंतु मैं आपकी धरोहर को लेकर आपके चरणों में प्रस्तुत हूं। इस राजकन्या को अपनी पुत्रवधू स्वीकार कर इसे और मेरे समस्त परिवार को गौरवान्वित करें!"

महर्षि ने प्रणाम करती राजकुमारी को शुभाशीर्वाद दिया।

श्यावाश्व समीप ही प्रसन्न, किंतु सलज्ज खड़ा मुसकरा रहा था।

# कण्व और प्रगाथ

कण्व ऋषि का सुरम्य आश्रम।

आश्रम में पर्णकुटीर।

भूमि गाय के पवित्र गोबर और मिट्टी से लिपी हुई है।

खूंटी पर दो-तीन वल्कल टंगे हैं।

एक ओर दीवार के पास दो कमंडल रखे हैं। उससे थोड़ा-सा आगे काष्ठ-पादुकाएं रखी हैं।

बाहर कुटीर के पास ही बाईं ओर दो गायें घने वृक्ष के नीचे बैठी हैं।

दाईं ओर एक सुंदर-सी यज्ञवेदी बनी हुई है, जिसमें से अब भी सुगंधित यज्ञ-धूम्र उठ रहा है। वेदी के चारों ओर पर्ण-चटाई और कुशासन बिछे हुए हैं। कुछ हवन-सामग्री और गोघृत से भरा एक घट भी वहीं रखा है।

एक पहर दिन चढ़ गया है।

ऋषि ने अपनी पत्नी से पूछा, ''कनिष्ठ भ्राता प्रगाथ कहां है?''

''वह समिधा लेने गया है। यज्ञ के लिए अरणियां भी समाप्त हो गई थीं। मैंने कहा था कि कुछ वह भी लेते आना। बस, आता ही होगा।''

पत्नी ने कर्णप्रिय वाणी में उत्तर दिया।

''वह बहुत काम करता है। उसे कहो, कभी विश्राम भी कर लिया करे।'' ऋषि ने छोटे भाई के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करते हुए कहा।

''आपने ही तो उसे शिक्षा दी है कि जीवन परिश्रम से बनता है। सो कि वह [illegible] दी तो [illegible] बना है जैसे परिश्रमी आप ऐसा

ही वह।'' पत्नी ने पति की ओर सलज्ज, सप्रेम दृष्टि से निहारते हुए कहा।

उस तन्वी का मुख रक्तवर्ण हो गया। आधी पलकें झुक गईं। प्रेम और यौवन-भार से दबी वह दाहिने पाद-अंगुष्ठ से भूमि कुरेदने लगी।

ऋषि धन्य-धन्य हो गए।

फिर संभलकर बोले, ''अच्छा, मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जा रहा हूं। जरा मेरा कमंडल और वल्कल पकड़ा दो।''

पत्नी ने तुरंत आज्ञा का पालन किया। कमंडल और वल्कल लाकर ऋषि के हाथों में थमा दिया। ऋषि ने पादुकाएं पहनीं और पत्नी की ओर निहारते हुए कुटिया से बाहर निकल गए।

और...

थोड़ी ही देर में ऋषि का छोटा भाई प्रगाथ सिर पर लकड़ियों का गट्ठर लिए आया। ऋषि-पत्नी ने जल्दी से सहारा देकर गट्ठर को उतरवाया।

प्रगाथ की देह पसीने से लथपथ थी। मस्तक पर श्रमबिंदु मोती की तरह चमक रहे थे।

ऋषि-पत्नी ने भागकर अंगोछा दिया। प्रगाथ ने श्रमबिंदुओं को पोंछा। ऋषि-पत्नी ने निर्मल जल पिलाया।

''लगता है, आज बहुत थक गया है रे।''

''हां भाभी! सूखी लकड़ियां काफी दूर मिलीं। और फिर आजकल गरमी भी तो प्रातः से ही शुरू हो जाती है।'' कहते-कहते प्रगाथ लिपी भूमि पर छाया में बैठ गया।

उसने जल पिया। वास्तव में प्रगाथ इतना थक गया था कि उसे बैठे-बैठे नींद-सी आने लगी। वह वहीं भूमि पर लेट गया। भाभी ने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया और उसे छोटे बच्चे की तरह सहलाने लगी।

और...प्रगाथ सो गया।

. . .

कुटीर-द्वार पर पादुकाओं की आहट हुई। अलसाई-सी ऋषि-पत्नी ने आंखें घुमाकर देखा। ऋषि कण्व द्वार से अंदर आ रहे हैं। मुंदरी का

चेहरा पति को देखकर खिल गया। मन करता था कि भागकर पति के हाथ से कमंडल और वल्कल ले और जहां से उठाकर उनको दिया था, वहीं यथास्थान रख दे। पति की जल आदि से सेवा करे।

किंतु तभी चेतना हुई कि प्रगाथ बच्चे की तरह उसकी गोदी में सो रहा है। यदि वह हिली तो उसकी निद्रा भंग हो जाएगी।

वह जड़वत् बैठी रही।

कण्व आगे बढ़े और यह दृश्य देखकर ठिठक गए।

युवा पत्नी की गोद में युवा कनिष्ठ भ्राता का सिर! और वह उनके आगमन की आहट पाकर हिली भी नहीं। उसने आगे बढ़कर सदैव की तरह अपनी मुसकराहट बिखेरकर उनका स्वागत भी नहीं किया। न कमंडल पकड़ा, न जल पूछा, न पैर छुए। और तो और, उनके आने के पश्चात् भी अपने देवर को गोद में लिए बैठी रही। इतनी निर्लज्जता! तो क्या अब तक उनके साथ धोखा होता रहा है? क्या उनकी पत्नी और प्रगाथ...

ऋषि कण्व का तन-बदन जल उठा। शरीर में क्रोध और घृणा की लहरें उठने लगीं। नसें तन गईं। नथुने फड़कने लगे। उन्होंने हाथ का कमंडल एक ओर फेंका और वल्कल दूसरी ओर। क्रोध से दहाड़कर बोले, ''पापिनी! कलंकिनी! ये तू क्या कर रही है?''

पत्नी आश्चर्यचकित हो पति की क्रोध-मुद्रा देखती रही। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि क्या हो गया है। उसके पति के क्रोध का कारण क्या है? वह अवाक् बैठी अपलक उन्हें देखती रही।

कण्व ने सहसा आगे बढ़कर गहन निद्रा में मग्न प्रगाथ पर जोर का पाद-प्रहार किया।

वह अचकचाकर उठ बैठा और उनींदी आंखों से चारों ओर देखता हुआ स्थिति से अवगत होने का प्रयास करने लगा।

उसके निकट ही उसकी भाभी बैठी है। सामने क्रोधाग्नि से धधकते ज्येष्ठ भ्राता कण्व खड़े हैं। उसके कानों में विष-बुझी वाणी सुनाई पड़ी।

''तू कामी! धोखेबाज! पापी...और यह मेरी पत्नी नहीं, कुल-कलंकिनी है! दुराचारिणी! कुलटा! तुम दोनों...'' कण्व बके जा रहे थे।

ही वह।'' पत्नी ने पति की ओर सलज्ज, सप्रेम दृष्टि से निहारते हुए कहा।

उस तन्वी का मुख रक्तवर्ण हो गया। आधी पलकें झुक गईं। प्रेम और यौवन-भार से दबी वह दाहिने पाद-अंगुष्ठ से भूमि कुरेदने लगी।

ऋषि धन्य-धन्य हो गए।

फिर संभलकर बोले, ''अच्छा, मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जा रहा हूं। जरा मेरा कमंडल और वल्कल पकड़ा दो।''

पत्नी ने तुरंत आज्ञा का पालन किया। कमंडल और वल्कल लाकर ऋषि के हाथों में थमा दिया। ऋषि ने पादुकाएं पहनीं और पत्नी की ओर निहारते हुए कुटिया से बाहर निकल गए।

और...

थोड़ी ही देर में ऋषि का छोटा भाई प्रगाथ सिर पर लकड़ियों का गट्ठर लिए आया। ऋषि-पत्नी ने जल्दी से सहारा देकर गट्ठर को उतरवाया।

प्रगाथ की देह पसीने से लथपथ थी। मस्तक पर श्रमबिंदु मोती की तरह चमक रहे थे।

ऋषि-पत्नी ने भागकर अंगोछा दिया। प्रगाथ ने श्रमबिंदुओं को पोंछा। ऋषि-पत्नी ने निर्मल जल पिलाया।

''लगता है, आज बहुत थक गया है रे।''

''हां भाभी! सूखी लकड़ियां काफी दूर मिलीं। और फिर आजकल गरमी भी तो प्रातः से ही शुरू हो जाती है।'' कहते-कहते प्रगाथ लिपी भूमि पर छाया में बैठ गया।

उसने जल पिया। वास्तव में प्रगाथ इतना थक गया था कि उसे बैठे-बैठे नींद-सी आने लगी। वह वहीं भूमि पर लेट गया। भाभी ने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया और उसे छोटे बच्चे की तरह सहलाने लगी।

और...प्रगाथ सो गया।

कुटीर-द्वार पर पादुकाओं की आहट हुई। अलसाई-सी ऋषि-पत्नी ने आंखें घुमाकर देखा। ऋषि कण्व द्वार से अंदर आ रहे हैं। सुंदरी का

चेहरा पति को देखकर खिल गया। मन करता था कि भागकर पति के हाथ से कमंडल और वल्कल ले और जहां से उठाकर उनको दिया था, वहीं यथास्थान रख दे। पति की जल आदि से सेवा करे।

किंतु तभी चेतना हुई कि प्रगाथ बच्चे की तरह उसकी गोदी में सो रहा है। यदि वह हिली तो उसकी निद्रा भंग हो जाएगी।

वह जड़वत् बैठी रही।

कण्व आगे बढ़े और यह दृश्य देखकर ठिठक गए।

युवा पत्नी की गोद में युवा कनिष्ठ भ्राता का सिर! और वह उनके आगमन की आहट पाकर हिली भी नहीं। उसने आगे बढ़कर सदैव की तरह अपनी मुसकराहट बिखेरकर उनका स्वागत भी नहीं किया। न कमंडल पकड़ा, न जल पूछा, न पैर छुए। और तो और, उनके आने के पश्चात् भी अपने देवर को गोद में लिए बैठी रही। इतनी निर्लज्जता! तो क्या अब तक उनके साथ धोखा होता रहा है? क्या उनकी पत्नी और प्रगाथ...

ऋषि कण्व का तन-बदन जल उठा। शरीर में क्रोध और घृणा की लहरें उठने लगीं। नसें तन गईं। नथुने फड़कने लगे। उन्होंने हाथ का कमंडल एक ओर फेंका और वल्कल दूसरी ओर। क्रोध से दहाड़कर बोले, "पापिनी! कलंकिनी! ये तू क्या कर रही है?"

पत्नी आश्चर्यचकित हो पति की क्रोध-मुद्रा देखती रही। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि क्या हो गया है। उसके पति के क्रोध का कारण क्या है? वह अवाक् बैठी अपलक उन्हें देखती रही।

कण्व ने सहसा आगे बढ़कर गहन निद्रा में मग्न प्रगाथ पर जोर का पाद-प्रहार किया।

वह अचकचाकर उठ बैठा और उनींदी आंखों से चारों ओर देखता हुआ स्थिति से अवगत होने का प्रयास करने लगा।

उसके निकट ही उसकी भाभी बैठी है। सामने क्रोधाग्नि से धधकते ज्येष्ठ भ्राता कण्व खड़े हैं। उसके कानों में विष-बुझी वाणी सुनाई पड़ी।

"तू कामी! धोखेबाज! पापी...और यह मेरी पत्नी नहीं, कुल-कलंकिनी है! दुराचारिणी! कुलटा! तुम दोनों..." कण्व बके जा रहे थे।

अब प्रगाथ को वस्तुस्थिति का भान हुआ। उसने बढ़कर अपने ज्येष्ठ भ्राता के चरण पकड़ लिए। बोला, "भैया, आप ऋषि हैं। मंत्र-द्रष्टा हैं। ज्ञानी हैं। फिर भी यह निराधार क्रोध क्यों?"

"चुप रह पाखंडी! तेरे इस झूठे आदर में मेरा अनादर छिपा है। तुम दोनों..."

विनीत पत्नी की आंखों से अश्रु-धारा फूट पड़ी। उसने भयग्रस्त हो अपनी आंखें झुका लीं। फूट-फूटकर रोने लगी। सती-साध्वी पर ऐसा आरोप! इतना कुत्सित संदेह! प्रेम और समर्पण का यह प्रतिदान?

प्रगाथ बोला, "शांत रहो, भ्राता। अपने ऋषित्व को इतनी जल्दी नष्ट न होने दो। संदेह और क्रोध विनाश का मूल है। यह मेरी माता हैं, ज्येष्ठ भ्राता! इन्होंने मुझे शिशुवत् स्नेह दिया है!"

"चुप रह अधम! मुझे ज्ञान दे रहा है! तुम्हारा प्रेम और आदर सब कोरा प्रदर्शन है। तुमने मेरे साथ छल किया है।"

प्रगाथ शांत और स्थिर रहा। वह एक क्षण मौन रहा। फिर विनम्र होकर उत्तर दिया, "आप मेरे पिता समान हैं, ऋषि कण्व! और ये मेरी माता समान हैं। मेरा सिर सदा ही आपकी गोद में रहा है। और आपने भी मुझे स्नेह से अपनी गोद में बिठाया है। माता-पिता की गोद बच्चे के लिए स्वर्ग के समान होती है। मेरा स्नेह मुझसे मत छीनिए, पिता! मुझे सदैव आपकी गोद और आपके चरण मिलें, यही मेरी इच्छा है।" कहकर प्रगाथ पुनः कण्व के चरणों में गिर गया और शिशु की तरह फूट-फूटकर रोने लगा।

कण्व को अनुभव हुआ—प्रगाथ का हृदय निर्मल है। उसमें लेशमात्र भी प्रदर्शन नहीं था। उसकी अश्रुधारा गंगाजल की तरह पवित्र थी।

कण्व का संदेह विगलित हो गया। क्रोधावेश निर्मल जल में घुल गया। उन्हें अपने किए पर पश्चात्ताप होने लगा। अपनी क्षणिक उत्तेजना पर ग्लानि होने लगी।

उन्होंने चरणों में पड़े प्रगाथ को उठाकर छाती से लगा लिया। उसकी पीठ स्नेह से थपथपाई।

फिर उन्होंने पत्नी को उठाया। अपने अंगोछे से उसके आंसू पोंछे।

उसका चिबुक पकड़कर झुके मुंह को ऊपर उठाया। उसको प्रेम-भरे नेत्रों से निहारा, जैसे अपने किए की क्षमा मांग रहे हों।

बायां हाथ पत्नी के कंधे पर रखा और दायां हाथ छोटे भाई प्रगाथ के कंधे पर। दोनों को साथ बढ़ाते हुए वे कुटीर में ले गए।

चारों तीनों गोबर लिपी भूमि पर बिछी पर्ण-चटाई पर बैठ गए।

फिर ऋषि कण्व मधुर वाणी में पत्नी से बोले, "हम दोनों भाइयों के लिए जल लाओ, प्रिये! और भोजन का प्रबंध भी करो। भूख लगी है

# महर्षि गौतम का पश्चाताप

महर्षि गौतम का मन क्रोधाग्नि में धू-धू करके जल रहा है। उनके लाल नेत्रों से चिनगारियां छिटक रही हैं। अंग फड़क रहे हैं। बेचैनी न उन्हें कुटिया में रहने देती है, न आश्रम में, न बाहर। वे कहां जाएं?

क्या करें?

उनके साथ इतना बड़ा छल! देवराज इंद्र और उनकी पत्नी अहल्या ने मिलकर ऐसा कुत्सित दुराचार किया!

महर्षि का मन चीत्कार कर उठा। उनकी सारी साधना मिट्टी में मिल गई। समुद्र-से गहरे शांत चित्त में ज्वार आ गया। उन्होंने दुराचारी इंद्र को तुरंत भयंकर शाप दे दिया। पावन आश्रम व्यभिचार के छींटों से अपवित्र हो गया। हरित वृक्षों के कोमल किसलय झुलसकर लटक गए। पुष्प-लताएं सूख गईं। पक्षी आश्रम त्यागकर भाग निकले। आश्रमवासी अपनी-अपनी कुटिया में घुस गए...

क्षुब्ध महर्षि हाथ में खड्ग लिए फुफकारते हुए अपनी भ्रष्टा पत्नी अहल्या की खोज में इधर-उधर भटक रहे हैं। भयभीत अहल्या कहां छिप गई? न वे किसी से पूछते हैं, न कोई उन्हें बता सकता है।

सर्वत्र सन्नाटा।

आतंक।

भय।

इस समय अहल्या सामने आ जाती तो?

तो जाने क्या हो जाता!

उन्होंने आश्रम का कोना-कोना छान मारा—अहल्या नहीं मिली। इस समय कोई आचार्य, कोई ब्रह्मचारी या अन्य कोई आश्रमवासी महर्षि के समक्ष आने का साहस नहीं कर पा रहा था। अंततः गौतम थककर,

अमष की अग्नि में जलते हुए, एक वृक्ष की छाया में बैठ गए। उन्होंने दोनों हाथों से अपना सिर पकड़ लिया। खड्ग धरती पर फेंक दिया उनकी आंखों से गरम जल के सोते फूट पड़े।

भय से आतंकित इस आश्रम में मात्र गौतम-पुत्र चिरकारी अपने स्वभावानुसार अविचलित ही रहा। किसी भी कर्म की प्रतिक्रिया उस पर सहज ही विलंब से होती थी। उसने क्षुब्ध-संत्रस्त-व्यथित पिता को वृक्ष के नीचे बैठे देखा। वह उनके सामने जाकर खड़ा हो गया। बहुत देर तक तो महर्षि ने देखा ही नहीं। वे अपने दुःख में निमग्न रहे। जब आंखें ऊपर को उठीं तो सामने चिरकारी को खड़े पाया। वे उसे कुछ देर तक तो अग्निमय नेत्रों से देखते रहे, फिर एकाएक उन्होंने धरती पर पड़ा खड्ग उठा लिया और चिरकारी को देते हुए बोले—

चिरकारी! तुम मेरे पुत्र हो! आयुष्मान हो। पुत्र का धर्म पिता की आज्ञा का पालन करना होता है। तुम्हारी मां अहल्या के कारण आज मेरा जीवन अपयश से भर गया है। कलंकित जीवन लेकर मैं जीवित नहीं रह सकता अहल्या को दंड मिलना ही चाहिए। वह कहीं छुप गई है। मेरी आज्ञा है कि तुम इस खड्ग से उसका सिर काटकर उसके पापी जीवन से उसको मुक्ति दिलवाओ। यही मेरी अंतिम आज्ञा और अंतिम इच्छा भी है '

यह कहकर गौतम ने आश्रम त्याग दिया और वन की ओर चल पड़े

ऐसी कठोर आज्ञा देने के बाद जैसे उनकी क्रोधाग्नि कुछ शांत हो गई थी हृदय का परिताप विगलित हो गया था। उनके क्रोध के आधार दोनों ही पापियों को दंड मिल चुका था!

चिरकारी हाथ में पिता द्वारा प्रदत्त खड्ग लिए वृक्ष के नीचे खड़ा है—पूज्य पिता की अंतिम आज्ञा! पिता परमधर्म के साक्षात् स्वरूप हैं। पिता की आज्ञा का शतशः पालन पुत्र का सर्वोच्च धर्म है। सभी शास्त्र ऐसा ही कहते हैं...और फिर मेरे पिता तो परम विद्वान्, धर्म-मर्मज्ञ एवं तपस्वी हैं। उनकी आज्ञा का उल्लंघन भला कैसे किया जा सकता है?

वह पिता की आज्ञा का पालन करने का संकल्प लेकर चल पड़ा।

पिता की आज्ञा...मां का वध!

क्या?

मां का वध?

नहीं, नहीं...यह कैसे हो सकेगा? क्या यह खड्ग मैं अपनी मां की गरदन पर चलाऊं? जिस मां के कारण मेरा अस्तित्व है, क्या उसी का अस्तित्व मिटा दूं? जिस मां का पावन दुग्ध मेरे पुष्ट तन की शिराओं में दौड़ रहा है, क्या उसी पर हाथ उठाऊं? नहीं! नहीं! यह संभव नहीं... मां धात्री है!...अंबा है! करुणामयी है!

मां नारी है! अबला है! असहाय है! पराधीन है।

और फिर मेरी मां तो तपस्विनी है! पिता की आज्ञाकारिणी है। सच्चरित्र है!

उसकी नृशंस हत्या मैं कैसे करूंगा? नहीं...नहीं होगा...मुझसे यह जघन्य कृत्य नहीं होगा।

लेकिन पिता की आज्ञा...

चिरकारी चलते-चलते सहसा रुक गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो, मुंह लटकाकर खड़ा हो गया। पिता की आज्ञा उसके हृदय में अंकुश की तरह चुभने लगी...

तभी असह्य लोक-लज्जा, ग्लानि और गौतम के भय से पीली पड़ी हुई अहल्या चिरकारी के सामने आकर खड़ी हो गई। वह अपने पुत्र से भी आंखें नहीं मिला पा रही थी। उसने धरती की ओर देखते हुए कहा—

"आयुष्मन्! तुम्हारी कलंकिनी मां तुम्हारे सामने खड़ी है। इस पापी शरीर से मुझे मुक्त कर दो! मैंने तुम्हारे पिता से छिपकर ऐसा दुष्कर्म किया...घोर अपराध किया है! उन्हीं के हाथों से यह खड्ग मेरे शरीर में धंसता तो मैं सचमुच मुक्त हो जाती। आजीवन उनके चरणों की सेवा में लगा यह शरीर अंतिम समय भी उन्हीं की भेंट चढ़ना चाहिए था। किंतु उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किए हुए तुम...उनके पुत्र...इस समय उन्हीं का स्वरूप हो। उठाओ खड्ग। मेरा सिर प्रस्तुत है..."

"नहीं, मां! नहीं!! तुम महान् हो। पूज्या हो। स्तुत्य हो। मुझसे यह कर्म नहीं होगा।"

चिरकारी का हृदय चीत्कार कर उठा। उसका हाथ जोर-जोर से कांपने लगा। शरीर से पसीना छूटने लगा।

"तुम्हें यह कर्म करना ही होगा, पुत्र। यह तुम्हारे पिता की आज्ञा है। उनका वचन कभी अन्यथा नहीं हुआ। आज उनके वचन-पालन का भार तुम्हारे ऊपर आ पड़ा है। तुम एक महर्षि के पुत्र हो। पुत्र-धर्म का पालन करो। पिता की आज्ञा का पालन करो।"

अहल्या का गला रुंध गया था, किंतु आवाज में तेजी थी।

"नहीं, मां...तुम..."

"मुझे मां मत कहो। मैं अपवित्र हो चुकी हूं!" अहल्या की आंखों से अश्रुधारा बह चली।

"मां सदा पवित्र होती है। संसार का कोई प्राणी उस पर अपवित्रता आरोपित नहीं कर सकता। मां की सेवा सबसे बड़ा धर्म है...मां का वध! उफ...नहीं होगा! मुझसे नहीं होगा!"

"तुम क्या कह रहे हो, चिरकारी? एक महर्षि की संतान कायर बन रही है! पिता की आज्ञा को ठुकराकर तुम अधर्म में प्रवृत्त हो रहे हो। पिता की आज्ञा का पालन सर्वोच्च धर्म है। धर्म का पालन करो। उठाओ, खड्ग उठाओ! उठाओ!! उठाओ!!!"

चिरकारी ने हताश हो खड्ग उठा लिया।

अहल्या ने सिर झुका दिया।

और तभी उनके कानों में दूर से आती हुई कातर वाणी सुनाई पड़ी, "ठहर जा, पुत्र! ठहर जा! तूने मुझे बचा लिया। अपनी मां को बचा लिया। अपने कुल को बचा लिया। हाथ रोक ले, पुत्र! एक अबला नारी का वध जघन्य पाप है।"

चिरकारी ने देखा—पिता गौतम भागे हुए उन्हीं की ओर आ रहे हैं।

पुत्र को कठोर आज्ञा सुनाकर गौतम का मन कुछ हलका हो गया था। जब उनकी बुद्धि पर से क्रोध का आवरण हट गया तब वे सोचने लगे—इसमें अहल्या का क्या दोष है? सारा दोष तो दुष्ट इंद्र का है।

अहल्या तो सदा निष्पाप रही है। वह सदैव मेरा आज्ञाकारिणी और सहायक रही है। मेरी अभाव-भरी गृहस्थी और तपस्वी जीवन में यदि वह साथ न देती तो क्या मेरा जप-तप सार्थक हो पाता? ऐसी पतिव्रता, सर्वगुणसंपन्न, धर्मपरायणा सुंदर पत्नी के वध की आज्ञा देकर मैंने घोर अधर्म किया है। एक निर्दोष, अबला नारी के वध का भयंकर अपराध मुझ पर लगेगा। नहीं, नहीं, यह वध नहीं होगा। मुझे इसे रोकना चाहिए...

गौतम पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए वन से आश्रम की ओर चल पड़े...

अहल्या को जीवित देखकर वह प्रसन्न हो गए।

चिरकारी ने खड्ग फेंक दिया और भागकर पिता के चरणों में गिर गया।

गौतम ने उसे उठाकर अपने अंक में भर लिया। बोले, ''चिरायु हो, पुत्र। तुमने मुझ पर उपकार किया है। तेरा अनेक जन्मों तक कल्याण हो। मंगल हो। थोड़ा-सा विलंब करके तूने सारे कुल को बचा लिया है!''

अहल्या अपने प्राणप्रिय पति को सामने देखकर भाव-विह्वल हो गई। उसकी आंखों से गंगा-जमुना बह चलीं। वह उनसे लिपटने के लिए दौड़ पड़ी। किंतु सहसा एक झटके-से रुक गई। जाने क्या सोचकर पैर वहीं जड़ हो गए। उसकी विषाद-भरी दृष्टि गौतम के चेहरे पर ठहर गई। आंखों से अश्रु-निर्झर बहता रहा...

महर्षि गौतम के मन में भी एक हूक उठी। उनके पैर भी उठने को हुए, किंतु फिर वहीं रुक गए। वे निर्निमेष नेत्रों से अहल्या को देखते रहे।

सन्नाटा छाया रहा। और अंततः गौतम अश्रुपूरित नेत्र लिए पुनः वन की ओर चल दिए।

अहल्या पछाड़ खाकर वहीं गिर गई।

अवाक् चिरकारी शून्य आंखों से दोनों को देखता रहा।

# तपस्वी जाजली और तुलाधार

भारत का दक्षिणांचल।

समुद्रतटवर्ती वन्य प्रांत।

सैकड़ों मील के क्षेत्रफल में फैली सघन वनराजी। केवल वन्य पशु पक्षियों का विहार-स्थल। मानव की छाया से नितांत अछूता।

जाजली ने यही क्षेत्र चुना था तपस्या के लिए।

भीषण गरमी हो या प्रचंड शीत। प्रलयंकारी वर्षा हो या विनाशक तूफान। जाजली खड़े रहते थे— ध्यान में निरत। धरती की मिट्टी के ऊपर, खुले आकाश के नीचे। न कभी बैठते थे, न लेटते थे। कभी-कभी कंद-मूल का अल्पाहार करते थे, बस।

शरीर सूखता गया। अंग-प्रत्यंग बाँस की तरह होते गए। पंचभौतिक शरीर में रुक्षता आती गई, किंतु भीतर सत्य की स्निग्धता व्याप्त होती गई ध्यान की लौ जाज्वल्यमान होती गई। शरीर की क्षण-भंगुरता, नश्वरता का आभास बढ़ता गया। आत्मा की नित्यता का बोध जाग्रत होता गया।

फिर भला शरीर की क्या चिंता? उसे कैसा विश्राम?

साधना की कठोरता का क्रम बढ़ता गया।

निशि-वासर अनवरत वृष्टि होती रही। खड़े होने के स्थान पर जल बढ़ता गया और इतना बढ़ा कि कंठ तक शरीर डूबने लगा।

किंतु जाजली खड़े रहे। उन्हें किसी वृक्ष की छाया भी नहीं चाहिए। प्रकृति द्वारा प्रदत्त है यह शरीर, प्रकृति ले लेगी। मोह किसलिए? इसकी सुरक्षा क्या?

अंततः वृष्टि को तो एक दिन बंद होना ही था, हो गई। किंतु जाजली की साधना अबाध रूप से चलती रही। आत्म-तेज निरंतर बढ़ता रहा आहार भी छूट गया। वे केवल जल एवं वायु का सेवन करने लगे।

घनी श्याम केशराशि श्वेत हो चली। साज-संवार के अभाव में उलझकर सूख गई। तन पर मिट्टी की परतें जमने लगीं। शरीर जड़ होता गया। अंत:करण चेतना से देदीप्यमान हो चला।

और एक दिन जाजली मुनि को अनुभव हुआ जैसे उनके सिर पर किसी का कोमल स्पर्श हुआ है। स्पर्श घनी जटाओं को पारकर सिर की ओर बढ़ता जा रहा है।

जाजली का शरीर रोमांचित हो उठा। उन्हें लगा जैसे आज उनकी तपस्या फलीभूत होने जा रही है। नेत्रों में चमक आ गई। शरीर में एक नई स्फूर्ति-सी जान पड़ी। ध्यान कुछ छूट गया। अब वह इसका आभास पाने को लालायित हो उठे कि यह सुखद स्पर्श किसका है। कहीं निराकार परमसत्ता का साकार वरद हस्त तो नहीं?

और अगले ही क्षण उन्हें 'चीं-चीं चीं-चीं' का स्वर सुनाई पड़ा। वे आश्चर्य से देखने लगे। आंखें खुल गईं। देखा—चिड़ियों का एक जोड़ा उनकी जटाओं से निकलकर आकाश में फुर्र से उड़ गया। वे निश्चल खड़े रहे।

पक्षी-दंपती थोड़ी देर में पुनः वहीं लौट आया। उनकी चोंच में सूखी घास के तिनके दबे हुए थे। और यह क्या! चिड़ियों ने महामुनि के निश्चल शरीर को किसी वृक्ष का ठूंठ समझकर उनकी जटाओं-रूपी सूखी झाड़ियों में अपना घोंसला बनाना आरंभ कर दिया।

जाजली महीनों से इतने निष्क्रिय-निश्चल खड़े रहे कि एक पक्षी ने उनको पेड़ समझ लिया था। इतनी कठोर साधना! जाजली मुनि को लगा जैसे उनको परमानंद की प्राप्ति हो गई है। उनकी साधना सफल हुई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि जब तक ये पक्षी उनकी जटाओं में सुखपूर्वक निवासकर स्वेच्छा से उड़ नहीं जाएंगे, वे इसी तरह निष्क्रिय खड़े रहेंगे, ताकि पक्षी उनको वृक्ष ही समझते रहें।

अब तो जाजली ने और भी कठिन हठयोग प्रारंभ कर दिया। उन्होंने प्राणायाम द्वारा अपनी श्वास-क्रिया भी बंद कर ली। जब तक पक्षी जटाओं में रहते, मुनि अपनी सांस भी रोके रहते। जब पक्षी विहार को उड़ जाते तो वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पुनः उसी

तरह निश्चल खड़े हो जाते। पक्षी संध्या समय आकर फिर अपने घोंसले में सो जाते।

इस तरह वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर ऋतुएं एक के बाद एक आईं और बीत गईं और फिर बसंत ऋतु भी अपना सौंदर्य लेकर आ गई। पक्षियों ने उनकी जटाओं में ही अंडे दे दिए। अंडे फूटकर बच्चे बने और पक्षियों का पूरा परिवार जाजली की जटाओं में निवास करने लगा।

अब तो जाजली का दायित्व और भी बढ़ गया। पक्षी-परिवार का कोई न कोई सदस्य उनकी जटाओं में उपस्थित रहता। इसलिए उन्हें चौबीस घंटे श्वास-क्रिया को बंद कर निष्क्रिय खड़े रहना पड़ता। वे जल की भी एक बूंद ग्रहण नहीं कर सकते थे।

धीरे-धीरे पक्षियों के बच्चे बड़े हो गए और वे अपने माता-पिता के साथ बाहर घूमने जाने लगे। जाजली को उस पक्षी-परिवार से गहरा मोह हो गया। उन्हें उनका आना-जाना, सोना, चहकना, फुदकना अच्छा लगने लगा। अब वे उनकी कुशल-क्षेम के लिए चिंतित रहने लगे। जब पक्षी प्रात:काल उड़कर चले जाते तो उनका ध्यान पक्षियों में ही लगा रहता, जब तक कि वे संध्या समय वापस उनकी जटाओं में नहीं लौट आते।

उनको लगा कि पक्षियों के उपकार के लिए इतना त्याग, इतनी तपस्या करना, उनकी साधना का चरमोत्कर्ष है। उन्हें आंतरिक सुख की अनुभूति होने लगी।

और उधर पक्षियों का परिवार बढ़ने लगा। उनके लिए अब वह जटाओं का निवास छोटा पड़ने लगा।

अब वे प्रात:काल बाहर चले जाते और चार-पांच दिन में वापस लौटते। शनै:-शनै: यह अंतर बढ़ने लगा। और एक दिन पक्षियों का परिवार उस घर को त्याग सदा के लिए किसी अन्य घर की खोज में चला गया।

जाजली एक महीने तक उसी तरह निश्चल खड़े उनकी प्रतीक्षा करते रहे। जब वे नहीं लौटे तब उन्होंने वह स्थान छोड़ा। साधना-स्थल से हटकर उनका रोम-रोम पुलकित हो गया। लगा कि वे पूर्ण सिद्ध हो

गए हैं। उन्होंने पक्षियों के एक पूरे परिवार को महीनों तक अपनी जटाओं में वास दिया है। भला उनके समान दूसरा तपस्वी कौन हो सकता है?

वे नदी पर गए। स्नान किया और सूर्य को तर्पण करने लगे। तभी ध्यान आया—इस सूर्य की उपासना करने की क्या आवश्यकता है? क्या इसमें मुझसे अधिक तेज है? नहीं। मेरे तप की तेजस्विता के सामने भला यह सूर्य क्या है? उन्होंने उपासना बंद कर दी।

संध्या बीत गई। रात को मंद-रश्मि चंद्रमा आकाश की छाती पर चढ़ आया। जाजली बोले, "ऐ चंद्रमा! अब तुझे सूर्य से प्रकाश लेने की आवश्यकता नहीं। उसकी तेजस्विता घट चुकी है। उसके भरोसे रहकर ही तो तेरी रोशनी इतनी मलिन है। अब तू मेरे आश्रित हो जा! मेरे तप के प्रकाश से प्रकाशित हो। मेरी रोशनी से रोशन हो।"

जाजली अपने अहंकार से आत्मसुख की अनुभूति करने लगे। उन्हें लगा जैसे सारे ब्रह्मांड में उन्हीं का तेज छाया हुआ है। सारी प्रकृति उनकी तपस्या और धर्म के सामने नत-मस्तक है!

अब उनको इस वन को त्यागकर, मानव-समाज में जाकर अपना चमत्कार दिखाना चाहिए।

और वे निकटवर्ती नगर की ओर चल पड़े। थोड़ी दूर ही गए थे कि उनको आकाशवाणी सुनाई पड़ी—

"जाजली! तुम्हारी तपस्या निश्चित रूप से उच्च कोटि की है, किंतु वह वाराणसी के तुलाधार वैश्य के समान नहीं है!"

जाजली सन्न रह गए। लगा, उनकी सारी साधना व्यर्थ हो गई है।

उनका हृदय ईर्ष्या-द्वेष से जलकर राख हो गया। वाराणसी का तुलाधार? कौन है यह? मुझसे बढ़कर? मैं उसे देखूंगा। उसकी परीक्षा लूंगा।

वह द्वेष की आग में जलते, वाराणसी के मार्ग पर चल पड़े।

महीनों तक दुर्गम वन-पर्वत, नदी-नाले, पार कर वह वाराणसी जा पहुंचे। पूछकर तुलाधार वैश्य की दुकान पर भी पहुंच गए।

उन्होंने देखा—तुलाधार तो साधारण-सा वैश्य मात्र है! वह अपनी

दुकान में ग्राहकों के साथ वस्तुओं के क्रय-विक्रय में व्यस्त है।

जाजली मुस्करा दिए। उन्हें संतोष हुआ। साथ ही उस आकाशवाणी पर क्रोध भी आया। कहां उनकी वर्षों की निराहार, निश्चल खड़े रहकर की गई प्रचंड तपस्या और कहां धन की लाभ-हानि में फंसा हुआ यह साधारण-सा वैश्य। भला यह उन जैसे तपस्वी के समान कैसे हो सकता है!

वे कुछ देर खड़े-खड़े तुलाधार को देखते रहे।

तुलाधार ग्राहकों से निपट लिया तो उसने देखा—एक संन्यासी उसकी दुकान के सामने खड़ा है। वह तुरंत दुकान से नीचे उतरा और जाजली का स्वागत करते हुए बोला, "महाराज! लगता है, आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। कृपया कुछ देर अंदर बैठकर विश्राम कीजिए।"

"नहीं, मैं किसी गृहस्थ के यहां विश्राम नहीं करता।" जाजली ने अहंकार में भरकर बड़ी ही उपेक्षा से उत्तर दिया।

"मुनिवर जाजली! गृहस्थी तो सारे आश्रमों का आधार है। वह परम सुखकारी है। आपने भी तो एक पक्षी के परिवार की गृहस्थी को महीनों तक अपनी जटाओं में बसाकर सुख का अनुभव किया था। आपकी साधना निश्चित ही उत्तम कोटि की है, किंतु अहंकार और द्वेष के कारण उसका काफी क्षय हो गया है। अहंकार तो साधना के कल्पतरु को काटने वाला कुठार है। तभी तो आते समय मार्ग में आपको आकाशवाणी सुनाई पड़ी थी!"

जाजली विस्मित! अवाक्!

तुलाधार आगे बोला, "आप दुर्गम लंबी यात्रा से तो थके ही हैं, किंतु उससे अधिक अपने अहंकार और द्वेष-भाव के कारण थक गए हैं। अतः कृपया कुछ देर शांत भाव से बैठकर विश्राम कर लें।"

जाजली एक साधारण वैश्य से ऐसी गोपनीय बातें सुनकर स्तंभित रह गए। सुदूर निर्जन वन में की गई उनकी तपस्या, पक्षी-परिवार का उनकी जटाओं में निवास करना, आकाशवाणी का सुनाई पड़ना आदि घटनाओं का इस वैश्य को कैसे पता चल गया?

जाजली का अहंकार गल गया। उन्हें लगा कि वे तो बिलकुल

शून्य हैं। उनके हृदय का द्वेष पिघलकर उनके नेत्र-मार्ग से बहने लगा। वे भागकर तुलाधार के चरणों में गिर गए और बोले—

''तपोधन, मैं क्षमा-याचना करता हूं। आपने मुझसे ही आज मेरा वास्तविक परिचय करा दिया। मैं अहंकार में स्वयं को भूल गया था आप ही वास्तविक तपस्वी हैं। एक साधारण-से वैश्यपुत्र होकर, इस गृहस्थी का कार्य करते हुए आपने जो सिद्धि प्राप्त की है, उसे मैं एक जन्मजात ब्राह्मण, संन्यासी होकर भी प्राप्त न कर सका। कृपया आप इसका रहस्य बताने का कष्ट करेंगे।''

तुलाधार ने जाजली को उठाते हुए कहा, ''विप्रवर! इसमें कुछ भी रहस्य नहीं है। मैं गृहस्थी में सारे कर्म समभाव से करता हुआ जल में उगे कमल की तरह इससे अछूता हूं। अपने व्यवसाय में पूरी निष्ठा और ईमानदारी का बरताव करता हूं। मन, वचन, कर्म से किसी का अहित नहीं करता। न किसी के प्रति द्वेष रखता हूं, न किसी से कोई कामना। मैं कोई जप-तप नहीं करता। सद्व्यवहार और पवित्रता से गृहस्थ-धर्म का पालन ही मेरी तपस्या है। और प्रियवर, इस सीधे-सादे धर्म का पालन ईमानदारी से करते रहने से संसार का कोई भी प्राणी ऐसी ही स्थिति प्राप्त कर सकता है, जिसे तुम सिद्धि या रहस्य कहते हो!''

जाजली एक साधारण-से वैश्य की सहज-सी वाणी में सिद्धि का वास्तविक रहस्य सुनकर गद्‌गद् हो गए। उनका द्वंद्व मिट गया। ज्ञान-चक्षु खुल गए। उन्होंने भी हठयोग की साधना त्यागकर ईमानदारी का साधारण जीवन जीने का संकल्प लिया।

● ● ●